क़ैद-ए-फ़िरंग
हसरत मोहानी

क़ैद-ए-फ़िरंग

हसरत मोहानी

लिप्यांतरण - आकाश अर्श

बढ़ चला जोश-ए-आरज़ू 'हसरत'

ख़त्म आने को आई क़ैद-ए-फ़िरंग

फ़ेहरिस्त

उर्दू-ए-मुअल्ला पर मुक़द्दमा

23 जून 1908 को मुक़द्दमा सेडीशन क़ायम हुआ और 4 अगस्त 1908 को 2 साल क़ैद-ए-सख़्त और पाँच सौ रुपये जुर्माने का हुक्म सुनाया गया।

अलीगढ़ में हर शख़्स जानता है और इसीलिए मजिस्ट्रेट अलीगढ़ को भी ग़ालिबन इस बात का इल्म होगा कि एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला एक फ़क़ीराना ज़िंदगी बसर करता है। इस पर भी 500 जुर्माना करने का सिवा इसके और क्या मतलब हो सकता था कि उर्दू-ए-मुअल्ला और कुतुबख़ाना उर्दू-ए-मुअल्ला की बर्बादी में कोई दक़ीक़ा बाक़ी न रहे। हमें मजिस्ट्रेट अलीगढ़ के इन अहकाम की शिकायत न अब है, न कभी हुई, और नौइयत-ए-मुक़द्दमा के लिहाज़ से उनकी ग़ैर-मामूली सख़्ती पर कभी तअज्जुब हुआ न अब है। इसलिए कि जब तक हिंदोस्तान में मजिस्ट्रेट पुलिस के ही आला अफ़सर रहेंगे और ख़ुफ़िया पुलिस की इन झूठी रिपोर्टों को सुनकर, जिनकी तरदीद का मुल्ज़िम को कोई मौक़ा न मिलता है, न मिल सकता है, फ़ैसला-ए-मुक़द्दमा से क़ब्ल ही राय क़ायम कर लिया करेंगे। जब तक कि वे ख़ुद एक शख़्स पर इल्ज़ाम लगाएँगे और वारंट जारी करेंगे और ख़ुद ही उसका इंसाफ़ करने बैठेंगे, उस वक़्त तक फ़ौजदारी के अक्सर मुक़द्दमात में उमूमन और पुलिस मुक़द्दमात में ख़ुसूसन ख़ालिस इन्साफ़ या रिहाई की उम्मीद करना अव्वल दर्जे की हिमाक़त है, क्योंकि पॉलिटिकल मुक़द्दमात में एक और ख़राबी ये भी ज़ियादा हो जाती है कि मुल्ज़िम अक्सर फ़िरंगियों और फ़िरंगी हुकूमत का दुश्मन समझा जाता है और इस लिहाज़ से यूरोपियन मजिस्ट्रेट के दिल में उसकी जानिब से बुग़्ज़-ओ-कुदूरत का पैदा होना एक ऐसा क़ुदरती अमल है जिसकी निस्बत हम उसको इल्ज़ाम नहीं दे सकते।

ये क़िस्सा तवील-ओ-तोल है। बहर-हाल, एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला को अलीगढ़ जेल और चंद रोज़ के बाद इलाहाबाद सेंट्रल जेल में जाना पड़ा, जहाँ हुक्काम के इशारे या ख़ुद इलाहाबाद जेल के यूरोपियन सुपरिंटेंडेंट की राय से उस को मामूली क़ैदियों से भी ज़ियादा सख़्ती बर्दाश्त करना पड़ी और तक़रीबन साल भर एक मन आटा पीसने की इस सख़्त मशक़्क़त से साबिक़ा रहा, जो आम तौर पर दीगर क़ैदियों से भी एक माह से ज़ियादा नहीं ली जाती।

खाने-पीने और आम बरताव की अबतरी के बयान से हम दीदा-ओ-दानिस्ता इसलिए क़त्अ-ए-नज़र करते हैं कि मबादा क़ौमी फ़रीक़ पर ये इल्ज़ाम क़ायम न हो कि उन में यक़ीन और अक़ीदे की ख़ातिर सख़्ती बर्दाश्त करने की काफ़ी हिम्मत न थी, इसी बाइस से वो लोग बाद में सरगर्म-ए-शिकायत होते हैं।

क़ैदियों की नफ़्सियात

भीड़-भाड़ के मौक़ों पर उमूमन और तीसरे दर्जे के रेलवे सफ़र में ख़ुसूसन अवाम-ए-अहल-ए-हिंद की जहालत, मुफ़्लिसी और बे-कसी का नज़ारा देखकर अक्सर लोगों को ये ख़याल पैदा होता होगा कि इन लोगों को सियासी मुआमलात से दिलचस्पी हासिल होने के लिए एक अर्सा-ए-दराज़ दरकार है और उस वक़्त तक आज़ादी-ए-हिंद का ख़याल ख़्वाब से ज़ियादा वक़्अत नहीं रखता। लेकिन हमारे नज़दीक इस ग़लत-फ़हमी का सबब इसके सिवा कुछ नहीं है कि ख़वास के ग़ुरूर और अवाम के इन्किसार की बदौलत इन दोनों के दरमियान तबादला-ए-ख़यालात की नौबत ही नहीं आने पाती, वर्ना साफ़ ज़ाहिर हो जाता कि जम्हूर-ए-अहल-ए-हिंद में सियासी उसूल के समझने और क़ुबूल करने की इस्तिदाद काफ़ी मिक़्दार में मौजूद है।

ज़िंदान-ए-फ़िरंग में राक़िम-उल-हुरूफ़ को एक क़ैदी की हैसियत से अवाम के दरमियान बग़ायत बे-तकल्लुफ़ी और बिरादरी के साथ रहना पड़ा और इस तरह उनके अस्ली जज़्बात और ख़यालात मालूम करने का बहुत अच्छा मौक़ा मिल गया। राक़िम के ख़याल में अवाम हिंद की हैरत-अंगेज़ ज़ेर की तमाम सियासी मसाइल को बावजूद कम-इल्मी, बल्कि बे-इल्मी बहुत जल्द और बहुत अच्छी तरह ज़ेहन-नशीन कर सकती है। जिस मसअले का उनके रू-ब-रू ज़िक्र हुआ, उसे वो लोग चश्म-ज़दन में न सिर्फ़ समझ गए, बल्कि उसके मुतअल्लिक़ ऐसी पुख़्ता राय भी ज़ाहिर की, जिसकी उनसे कोई तवक़्क़ो न हो सकती थी। इस ज़िम्न में हमको फ़रीक़-ए-गर्म के बर-सर-ए-हक़ और नर्म गिरोह के ख़फ़ा पर होने का क़तई सुबूत भी बहम पहुँचा, क्योंकि स्वदेशी, बायकॉट, क़ौमी तालीम और पंचायत के उसूलों को अवाम ने बिला-तकल्लुफ़ समझा और पसंद किया। बर-ख़िलाफ़ इसके, मौजूदा निज़ाम-ए-हुकूमत की इस्लाह और अर्ज़-ए-मारूज़ की पॉलिसी को इन सबने बिला-इत्तिफ़ाक़ मोहमल क़रार दिया और इस क़िस्म के ग़लत उसूल की पैरवी को ख़बत और तज़य्यु-ए-औक़ात से ताबीर किया।

ला-रैब-ए-जम्हूर का ये तबई रुजहान हमारे मज़कूरा-बाला दावे का क़तई और आख़िरी सबूत है। जिन लोगों को ख़वास अपने ज़ोम में नापाक और रज़ील समझकर तमाम आला सिफ़ात से महरूम और तालीम-ओ-तहज़ीब से मुस्तफ़ीद होने के क़ाबिल क़रार देते हैं, हमने उन सबको ब-ख़ूबी आज़मा कर देखा और ये मालूम करके निहायत ख़ुशी हुई कि क़ुयूद-ए-ज़ात से मुतअल्लिक़ तक़रीबन कुल उसूल यक-क़लम बातिल हैं, और तहज़ीब-ओ-तालीम के नुक़्स-ओ-कमाल का दार-ओ-मदार सिर्फ़ सोसाइटी की अच्छाई या बुराई पर मुनहसिर है। हमने अपने दोस्तों में जिन लोगों को सबसे ज़ियादा ख़लीक़ और शरीफ़-ओ-इल्म-दोस्त पाया, उनमें से एक पारसी, एक कुचबंधिया, एक हिंदू तेली और एक मुसलमान तेली था। हम बिला-ख़ौफ़-ए-तरदीद कह सकते हैं कि अगर अदना अक़्वाम को हुसूल-ए-इल्म-ए-तहज़ीब के ज़राए हासिल हों, तो वो लोग बिला-शुब्हा तरक़्क़ी के आला-तरीन मदारिज तक पहुँच सकते हैं।

जिस शख़्स ने कभी क़ैद-ख़ाने की सूरत न देखी हो, वो तो वहाँ के हालात से किसी तरह आगाह हो ही नहीं सकता, लेकिन हमारा ये दावा है कि जो लोग जेल की सैर बतौर विज़िटर किया करते हैं, वो भी कम-ओ-बेश वहाँ के अंदरूनी हालात से वाक़िफ़ नहीं हो सकते इसलिए कि मुलाज़िमान-ए-जेल की सख़्तियाँ, घुरकियाँ और गालियाँ, ग़िज़ा-ए-ज़िंदान की हद से ज़ियादा अबतर हालत, हाकिमान-ए-जेल के ज़ुल्म और बे-इंसाफ़ियाँ — इन सबकी अस्ली कैफ़ियत क़ैदियों के सिवा और किसी को मालूम नहीं हो सकती।

यादश-बख़ैर लाला लाल चंद फ़लक ने आख़िर 1907 में ब-ज़माना-ए-सूरत कांग्रेस कुछ हालात-ए-ज़िंदाँ लाहौर के सुनाते थे, लेकिन जेल की हक़ीक़त राक़िम के ज़ेहन-नशीन सिर्फ़ उस वक़्त हुई, जब 23 जून 1908 को ब-इल्लत-ए-सेडीशन दाख़िल-ए-हवालात होना पड़ा।

दाख़िला-ए-जेल को दुनिया से क़त्अ-ए-तअल्लुक़ के बराबर न सही, तो उस से कुछ ही कम समझना चाहिए। अरबाब-ए-होश को इससे मौत का सबक़ हासिल हो सकता है। जिस तरह कि अजल इंसान को तमाम दुनियावी झगड़ों से छुड़ा कर आनन-फ़ानन एक ऐसे आलम में पहुँचा देती है, जिसका किसी को इल्म नहीं, उसी तरह से एक शख़्स के मुक़द्दमा-ए-सेडीशन में गिरफ़्तार होने के बाद वो अपने तमाम मशाग़िल और कारोबार से दफ़्अतन अलग होकर एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाता है, जहाँ की आब-ओ-हवा, तरीक़-ए-बूद-ओ-बाश, तर्ज़-ए-रफ़्तार-ओ-गुफ़्तार — ग़रज़ कि हर चीज़ निराली नज़र आती है।

फ़र्क़ सिर्फ़ इस क़दर समझ लीजिए कि मौत के बाद आज़ा-ओ-अक़रिबा से दाइमी जुदाई हो जाती है, लेकिन यहाँ आइंदा के लिए उम्मीद बाक़ी रहने के अलावा इख़्तिताम-ए-मुक़द्दमा तक कभी-कभी उन से दूर की मुलाक़ात भी हो जाया करती है।

गिरफ़्तारी

गिरफ़्तारी के वक़्त राक़िम-उल-हुरूफ़ की शीर-ख़्वार लड़की नईमा हद दर्जा अलील थी और इत्तिफ़ाक़ से मकान पर वालिदा-ए-नईमा और एक ख़ादिमा के सिवा और कोई मौजूद न था। लेकिन उनकी ज़ात से इस नाज़ुक वक़्त में बर-बिना-ए-सयादत-ओ-ताईद-ए-रब्बानी हैरत-अंगेज़ हौसला-ओ-इस्तिक़लाल का इज़हार हुआ। ख़ुद परेशान होकर राक़िम को भी मायूस करने के बजाय उन्होंने दूसरे ही दिन ब-ज़रीआ-ए-सुपरिंटेंडेंट जेल एक ऐसा हिम्मत-अफ़ज़ा ख़त भेजा जिसे देखकर जुम्ला कार-पर्दाज़ान-ए-ज़िंदाँ मुतहय्यर रह गए।

राक़िम का ज़हन ब-फ़ज़्ला-ए-अम्र हक़ की पैरवी के बाइस यूँ ही क़वी था, लेकिन उनकी ये तहरीर कि 'तुम पर जो उफ़्ताद पड़ी है, उसे मर्दानावार बर्दाश्त करो, मेरा या घर का मुतलक़ ख़याल न करना। ख़बरदार, तुमसे किसी क़िस्म की कमज़ोरी का इज़हार न हो' —तक़्वियय्त-ए-मज़ीद का बाइस हुई। भाई साहब को उन्होंने तार देकर बुलवा लिया था, जिनके हम-राह वो जेल में मुझसे मिलने भी आईं और जब तक मुक़द्दमा चलता रहा, हर हफ़्ते आया कीं और आख़िर तक उनकी जुरअत-ओ-हिम्मत में ज़र्रा बराबर भी फ़र्क़ नहीं आया। अलहम्दु-लिल्लाह! मुक़द्दमा ख़त्म होने तक अख़बार देखने की इजाज़त मजिस्ट्रेट अलीगढ़ से मिल गई थी। इसलिए जिन-जिन अख़बारों की निस्बत मेरी पसंद का उन्हें इल्म था, वो रोज़ाना भेज दिया करती थीं।

दो ही रोज़ के बाद मिस्टर तिलक की गिरफ़्तारी का हाल मालूम हुआ, जिसके अफ़सोस में राक़िम को अपनी तमाम मुसीबतें फ़रामोश हो गईं। मिस्टर तिलक के डीफ़ेंस ऐड्रेस को पढ़-पढ़ कर अलबत्ता रूह ताज़ा और हिम्मत बुलंद होती थी और मुझको तो ऐसा मालूम होता था कि इस ऐड्रेस की समाअत के बाद अगर जज इंसाफ़ से काम लेगा, तो मिस्टर तिलक ज़रूर बरी हो जाएँगे। लेकिन जस्टिस दावर के फ़ैसले ने इन सारी उम्मीदों का ख़ून कर दिया। इस बे-दिली-ए-ख़ातिर के दौरान में एक रुबाई ज़ेहन में आती थी, वो नज़्र-ए-नाज़िरीन है:

ताअत है फ़िरंगियों की जिन का दस्तूर
क्या ख़ाक उन्हें दाद-गरी का हो शऊर!
इंसाफ़ के दुश्मनों का दावर है लक़ब
'बर-अक्स-ए-नहंद नाम-ज़नगी काफ़ूर'

हवालातियों की ज़िंदगी

हवालात में दाख़िल होने पर नौ-गिरफ़्तारान-ए-ज़िंदाँ को सबसे ज़ियादा अफ़सोस-नाक नज़ारा हवालातियों की हालत-ए-ज़ार का नज़र आता है कि अदना मुलाज़िमान-ए-जेल ना-जायज़ हुसूल-ए-ज़र की आरज़ू से उनकी तज़्लील का कोई दक़ीक़ा उठा कर नहीं रखते। बहुत से लोग उनमें ना-कर्दा-गुनाह-ए-पुलिस का शिकार और पहले ही से मज़्लूम होते हैं। उनके साथ संग-दिल पुलिस वालों का ये क़ाबिल-ए-नफ़रीन बरताव देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क़वाइद-ए-जेल के मुताबिक़ हवालातियों से कुछ काम नहीं लिया जा सकता, लेकिन अलीगढ़ जेल में तो हमने जब देखा किसी को घास छीलते, किसी को झाड़ू देते, या कुछ नहीं तो पानी भरते पाया।

क्योंकि इन ख़िदमात से इन्कार का नतीजा ज़द-ओ-कूब की ज़िल्लत के सिवा और कुछ नहीं हो सकता, बाज़ लोगों पर बिला-सुबूत मुक़द्दमे क़ायम थे, महज़ इसलिए कि उन्हें सज़ा न भी होगी तो कम-अज़-कम हवालात में रहकर उनकी आबरू तो ख़ाक में मिल जाएगी।

ऐसे लोगों के मुक़द्दमात को अहल-ए-पुलिस मुल्तवी कराते रहते हैं, यहाँ तक कि वो हवालात की ज़िंदगी से तंग आ जाते हैं और बरी होने पर भी एक तरह से काफ़ी सज़ा बर्दाश्त कर चुकते हैं। हमसे एक नौजवान हवालाती ने ब-क़स, बयान किया कि पुलिस ने मुझे अज़-राह-ए-अदावत डेढ़ महीने से हवालात में बंद करा रखा है और दौरान-ए-मुक़द्दमा में एलानिया मुझे सुना-सुना कर कहा करते हैं: 'बच्चा, अब छूट भी जाओगे तो क्या हुआ? तुमको सज़ा से ज़ियादा तो हमने हवालात में तक्लीफ़ भुगतवा ली।'

यकसाँ तौर पर मुक़ाबला-ए-मुसीबत होने की वज्ह से तमाम हवालातियों में बाहम एक क़िस्म की हमदर्दी पैदा हो जाती है। उनमें से अक्सर एक-दूसरे से अपनी दास्तान-ए-अलम बयान करके हमदर्दी और तस्कीन के तलबगार होते हैं। राक़िम-उल-हुरूफ़ का ज़माना-ए-हवालात इसी क़िस्म के अफ़सानों की समाअत में सर्फ़ हुआ।

इस बात को जेल-ख़ाने की ख़ुसूसियात में से समझना चाहिए कि वहाँ मुआमलात की अस्लियत क़ैदियों या हवालातियों से पोशीदा नहीं रह सकती और मुक़द्दमात के तक़रीबन कुल वाक़िआत ज़ाहिर हो जाते हैं क्योंकि जेल में दाख़िल होने या क़ैद हो जाने के बाद फिर कोई मुजरिम अपने राज़ों को दूसरे क़ैदियों या हवालातियों से छुपाने की ज़रूरत नहीं समझता। हमने आदी मुजरिमों के सिवा बाक़ी सब क़ैदियों को अमूमन सच ही बयान करते पाया।

अब अगर उन लोगों के बयान सही थे (और ब-ज़ाहिर उनके ग़लत होने का कोई सबब नज़र नहीं आता), तो हम कह सकते हैं कि अहल-ए-पुलिस की रिश्वत-सितानी-ओ-जब्र, नीज़ बाज़ बा-इख़्तियार लोगों की बेइंसाफ़ी और नाख़ुदा-तर्सी इस हद तक पहुँच चुकी है कि अगर लोगों को उसकी अस्ली कैफ़ियत मालूम हो जाए, तो उनकी आँखें हैरत से खुली की खुली रह जाएँ। हम इन तमाम वाक़िआत की सेहत को बा-ज़ाब्ता तौर पर साबित नहीं कर सकते, वर्ना इन के इज़हार से बाज़ न रहते।

इन तमाम वाक़िआत को सुन-सुन कर राक़िम-उल-हुरूफ़ को अपनी गिरफ़्तारी में भी मस्लिहत-ए-ईज़िदी का एक अजीब-ओ-ग़रीब करिश्मा नज़र आता था कि इसी की बदौलत अहल-ए-पुलिस और बाज़ हुक्काम को उनके अस्ली रंग-ओ-रूप में देखने और उनकी तमाम पोशीदा कार-रवाइयों को मालूम करने का मौक़ा हासिल हुआ।

आग़ाज़-ए-क़ैद

तक़रीबन चालीस रोज़ की कश्मकश और बेकार तवालत के बाद आख़िर-कार मुक़द्दमे का वही फ़ैसला हुआ, जो इस क़िस्म के मुक़द्दमात में हमेशा हुआ करता है। यानी 4 अगस्त 1908 से क़ैद-ए-सख़्त का आग़ाज़ इस तौर पर हुआ कि कचहरी से जेल वापिस पहुँचते ही एक लंगोट, जाँघिया और एक कुर्ता, टोपी पहनने के लिए, एक टुकड़ा टाट और एक कंबल बिछाने-ओढ़ने के वास्ते और एक क़दह-ए-आहनी—एक बड़ा, एक छोटा— दीगर जुम्ला ज़रूरियात को रफ़ा करने की ग़रज़ से मरहमत हुए।

इन चंद चीज़ों के सिवा क़ैदियों को और कोई शय पास रखने की इजाज़त नहीं होती। इब्तिदा में सामान-ए-बूद-ओ-माँद की इस क़िल्लत से किसी क़दर तक्लीफ़ ज़रूर महसूस हुई, लेकिन बहुत जल्द तबीयत ने इन्हीं चीज़ों के इस्तेमाल पर क़ाने हो कर एक अजीब-ओ-ग़रीब सबक़ हासिल किया कि अगर इंसान हवा-ओ-हवस को तर्क कर दे, तो ज़िंदगी की ज़रूरतें इस क़दर कम हैं और वो भी आसानी के साथ फ़राहम हो सकती हैं कि बज़ाहिर उनके लिए इन्सान को जब्र-ओ-सितम या मक्र-ओ-फ़रेब के वसाइल इख़्तियार करने और बाज़-औक़ात अग़्यार की बंदगी-ओ-गुलामी तक के क़ुबूल करने पर आमादा हो जाना एक हैरत-अंगेज़ मुआमला नज़र आता है।

ज़िंदानी मुआशरत की ये फ़क़ीराना शान हर तरह से राक़िम-उल-हुरूफ़ के मुनासिब-ए-हाल थी, अलबत्ता इब्तिदा में ब-हालत-ए-नीम-बरहनगी, फ़रीज़ा-ए-नमाज़ के अदा करने में तकल्लुफ़ होता था, लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता अपनी मजबूरी और बेकसी के एहसास ने इस का भी ख़ूगर बना दिया। जेल की सख़्त-तरीन चक्की से पहले ही रोज़ साबिक़ा पड़ा और राक़िम ने ब-मिस्दाक़-ए-'बर-सर-ए-औलाद-ए-आदम हर चे आयेद ब-गुज़रद, इस जब्री ख़िद्मत को ब-सर-ओ-चश्म क़ुबूल किया।

आम तौर पर लोगों का ख़याल था कि ये मशक़्क़त चंद रोज़ा साबित होगी और किसी सैंटर्ल जेल में तबदील होने पर कोई लिखने पढ़ने का काम मिल जाएगा; चुनाँचे जब 13 अगस्त को दफ़्अतन तबादला-ए-इलाहाबाद की ख़बर मालूम हुई तो लोगों के इस गुमान को इस बिना पर और भी तक़्वियत हासिल हुई कि इस जेल में गर्वनमैंट ब्रांच प्रैस और जेल-प्रेस की मौजूदगी से आम तौर पर यही नतीजा निकाला जा सकता है कि तालीम-ए-याफ़्ता क़ैदियों का वहाँ भेजा जाना इसी ग़रज़ से होता है कि उनसे लिखने-पढ़ने की ही कोई ख़िदमत ली जाएगी।

लेकिन राक़िम को अहल-ए-फ़िरंग की शराफ़त और आली-हौसलगी से किसी रिआयत की उम्मीद न थी, चुनाँचे बाद में साबित मेरा कि मेरा ख़याल बिल्कुल सही था और इलाहाबाद जेल में सिर्फ़ यही नहीं हुआ कि बजाए कार-ए-तहरीर राक़िम को चक्की ही की ख़िदमत सपुर्द हुई, बल्कि क़ैद की तक़रीबन सारी मुद्दत रोज़ाना एक मन आटा पीसने से सरोकार रहा, हालाँकि आम क़ैदियों से भी उमूमन चक्की एक या दो माह से ज़ियादा नहीं पिसवाई जाती है।

क़ैदी का सफ़र

रवानगी इलाहाबाद के लिए अलीगढ़ जेल से स्टेशन तक दो पुलिस-मैनों के हमराह पा-ब-जौलाँ भेजने की तज्वीज़ हुई। रवानगी ट्रेन का वक़्त क़रीब था, लेकिन सलाख़-दार बेड़ियों की सख़्ती माने-ए-रफ़्तार थी। इलावा-बरीं, आस्मान को हुजूम-ए-अब्र ने अंबरीं और ज़मीन को ख़फ़ीफ़ तरश्शुह ने तर कर दिया था।
कुछ दूर बमुश्किल पा-पियादा चलने के बाद, हमराही मुलाज़िमान-ए-पुलिस ने हस्ब-ए-मामूल अज़-रू-ए-क़ानून बेगार एक यक्का गिरफ़्तार किया और हम सब उस पर सवार होकर स्टेशन पहुँचे। वाज़ेह हो कि गवर्नमेंट ने हमारे इख़राजात-ए-सफ़र के लिए किराया-ए-रेल के सिवा एक पैसा ज़ायद नहीं दिया था, यहाँ तक कि रास्ते में क़ैदियों की ख़ूराक के लिए जो एक आना फ़ी-कस फ़ी-रोज़ के हिसाब से जो रक़म मिलती है, वो भी नहीं दी जिसका नतीजा ये हुआ कि दूसरे दिन सुब्ह तक थोड़े से भुने चनों के सिवा और कुछ खाने को न मिला।
और किसी को तो राक़िम-उल-हुरूफ़ की रवानगी अलीगढ़ से इत्तिला न थी, अलबत्ता रेलवे स्टेशन के मुलाज़िमों में से जो चंद लोग वाक़िफ़-ए-हाल थे, वो गिर्द जमा हो गए और अफ़्सोस करते रहे।
तीन बजे सह-पहर को ट्रेन अलीगढ़ से रवाना होकर क़रीब-ए-शाम को टुंडले पहुँची, जहाँ इत्तिफ़ाक़ से इंडियन डेली टैलीग्राफ़ का एक पर्चा दस्तयाब हो गया। दस-बारह रोज़ से चूँकि कोई अख़बार देखने को न मिला था, इसलिए उस का एक-एक हर्फ़ बड़े शौक़ और इज़्तिराब के साथ पढ़ा। तुर्की में दस्तूरी हुकूमत के होने का हाल मालूम कर के मसर्रत ब-अंदाज़ा हासिल हुई। उस रोज़ के बाद फिर आख़िर-ए-मुद्दत-ए-क़ैद तक किसी अख़बार की सूरत तक नज़र न आई, और हक़ ये है कि जेल में ये एक ऐसी महरूमी थी जिसे राक़िम ने सबसे ज़ियादा महसूस किया।
ज़माना-ए-हवालात के आए हुए अख़बारों, किताबों और कपड़ों की एक गठड़ी भी हमराह थी। अस्ना-ए-राह में आख़िरी बार दीवान-ए-हाफ़िज़ की ज़ियारत नसीब हुई। हाफ़िज़ की ग़ज़लें अर्बाब-ए-ज़ौक़-ओ-मुहब्बत के लिए हर हालत में सरमाया-ए-सुरूर साबित होती हैं। चुनाँचे इस फ़क़ीर के क़ल्ब-ए-मुज़्तर ने बावजूद बे-इत्मीनानी उन से बहुत कुछ तस्कीन हासिल की। एक ग़ज़ल ने ख़ुसूसियत के साथ दिल पर असर किया, इस क़दर कि राक़िम-उल-हुरूफ़ ने उसे ज़बानी याद कर लिया और दौरान-ए-क़ैद में, ब-हालत-ए-तन्हाई बारहा उसे दोहराया और हर बार नया लुत्फ़ पाया। मुलाहिज़ा हो:

ख़ेज़ ता-अज़ दर-ए-मयख़ाना कुशादे तलबीम
बर-दर-ए-दोस्त नशीनम-ओ-मुरादे तलबीम

लज़्ज़त-ए-दाग़-ए-ग़मत बर-दिल-ए-मा बाद हराम
अगर अज़-जौर-ए-ग़म-ए-इश्क़-ए-तू दादे तलबीम

ज़ाद-ए-राह-ए-हरम-ए-दोस्त नदारीम मगर
ब-गदाई ज़ि-दर-ए-मयकदा ज़ादे तलबीम

चूँ ग़मत-रा न-तवाँ याफ़्त मगर दर-ए-दिल-ए-शाद
मा ब-उम्मीद-ए-ग़मत ख़ातिर-ए-शादे तलबीम

बर-दर-ए-मदरिसा ता-चंद नशीनी 'हाफ़िज़'
ख़ेज़ ता-अज़-दर-ए-मयख़ाना कुशादे तलबीम

टुंडले में चंद नौजवान लोगों को शायद राक़िम का हाल मालूम हो गया था, क्योंकि जब ट्रेन वहाँ से चली, तो उन्होंने प्लेटफ़ॉर्म के आख़िरी हिस्से के क़रीब जमा होकर बड़े ख़ुलूस के साथ बा-चश्म-ए-पुर-नम सलाम किया।
कानपुर में एक साहब ने आकर दरियाफ़्त किया कि ग़ालिबन आप 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के एडिटर हसरत मोहानी हैं? और जवाब इस्बात में पाकर कुछ देर तक हम-दर्दाना बातें करते रहे। उन्हें भी इलाहाबाद जाना था, इसलिए रास्ते में उनसे कई बार मिलना हुआ। वालिद-ए-मरहूम की निस्बत मुझ को मालूम था कि वो अपील की ग़रज़ से इलाहाबाद ही में होंगे।
इसलिए मैंने उन साहब के ज़रीए से अपने तबादला-ए-इलाहाबाद की इत्तिला और सेंट्रल जेल में मिल जाने की दरख़्वास्त कर दी थी। वालिद-ए-मरहूम के जा-ए-क़याम की मुझको आगाही न थी, लेकिन मालूम होता है कि साहिब-ए-मौसूफ़ ने उन्हें हर कोशिश से तलाश कर के मेरा पैग़ाम उसी रोज़ पहुँचा दिया।
क्योंकि दो ही चार रोज़ के बाद मालूम हुआ कि वालिद-ए-मरहूम ने मुझसे मिलने की दरख़्वास्त पेश की है लेकिन अफ़्सोस कि सुपरिंटेंडेंट जेल ने उनकी दरख़्वास्त को किसी मस्लिहत से मंजूर नहीं किया और वो नाकाम वापिस आए। मुझ को इस वाक़िए का किसी क़दर अफ़सोस हुआ, ख़ुसूसन इसलिए कि अपील के मुतअल्लिक़ जो कुछ कार-रवाई हो रही थी, उसका कुछ भी हाल न मालूम हो सका।
वालिद-ए-मरहूम को मेरे इस तरह गिरफ़्तार और मुसीबत-ज़दा होने का बे-इंतिहा क़लक था। चुनाँचे जेल से वापिस आने पर अक्सर आज़ा की ज़बानी मालूम हुआ कि इस वाक़िए के बाद उनकी सेहत भी सही न रही, और आख़िर-कार मेरी अदम-मौजूदगी ही में उन्होंने इंतिक़ाल फ़रमाया।

इन्ना लिल्लाहि व-इन्ना इलैहि राजिऊन

जेल में मुझको इस वाक़िए की ख़बर तक नहीं हुई।

वो मिरा पहले पहले दाख़िल-ए-ज़िंदाँ होना

इलाहाबाद का सेंट्रल जेल नैनी में है, जहाँ जाने के लिए इलाहाबाद से आगे नैनी जेल जंक्शन पर उतरना होता है। हम लोग सुब्ह वहाँ पहुँच कर आठ बजे के क़रीब सेंट्रल जेल में दाख़िल हुए। अलीगढ़ जेल के कपड़े उतार लिए गए और कहा गया कि यहाँ के कपड़े कुछ देर में मिलेंगे। उस वक़्त तक काले कपड़े पहनो, जिनकी कैफ़ियत ये थी कि उनसे ज़ियादा कसीफ़, ग़लीज़ और बदबूदार कपड़ों का तसव्वुर इंसानी ज़ेहन में नहीं आ सकता। लेकिन 'क़हर-ए-दरवेश ब-जान-ए-दरवेश', वही कपड़े पहनना पड़े।
राक़िम-उल-हुरूफ़ की निगाह दूर-बीं नहीं है, इसलिए पढ़ने-लिखने के औक़ात को छोड़कर बाक़ी हर वक़्त ऐनक की ज़रूरत रहती है। चुनाँचे अलीगढ़ जेल के सुपरिंटेंडेंट ने बाद-ए-मुआइना ऐनक लगाए रहने की इजाज़त दे दी थी। लेकिन इलाहाबाद वालों ने इसे किसी तरह गवारा नहीं किया और ऐनक को दाख़िल-ए-दफ़्तर करके राक़िम की बे-दस्त-ओ-पाई को एक दर्जा और बढ़ा दिया।

ईं-हम-अंदर आशिक़ी, बाला-ए-ग़म-हा-ए-दिगर*

[*मुहब्बत भी दूसरे ग़मों में से एक ग़म है। मुसीबत पर मुसीबत आने के मौक़े पर कहते हैं।]

थोड़ी देर बाद जेलर साहब नाज़िल हुए और मेरे साथ के तमाम अख़बारों और काग़ज़ों को, ब-इस्तिसना-ए-दीवान-ए-हाफ़िज़, अपने सामने जलवाकर ख़ाकिस्तर कर दिया, और दफ़्तर में हाज़िर होने का हुक्म सादिर फ़रमाया।
दफ़्तर में मुझको ग़ज़ब-आलूद और क़हर-बार निगाहों से देखकर इरशाद हुआ कि यहाँ ठीक तौर से न रहोगे, तो बीमार बनाकर अस्पताल भेजे जाओगे और वहाँ मारकर ख़ाक कर दिए जाओगे! इस ख़िताब-ए-पुर-इताब का ख़ामोशी के सिवा और जवाब ही क्या हो सकता था?
जेलर साहिब ने ग़ालिबन ये तक़रीर महज़ धमकाने की ग़रज़ से की होगी, क्योंकि बाद में उन से मुझ को कोई नुक़्सान नहीं पहुँचा लेकिन इस में कोई शुब्ह नहीं कि क़ैदियों की निस्बत जेल-ख़ाने की ये मिस्ल बिल्कुल सहीह है कि 'मर जाएँ तो मक्खी, और निकल जाएँ तो शेर।' जिस का मतलब ये है कि अगर कोई क़ैदी जेल में मर जाए, तो वहाँ इस वाक़िए की अहमियत एक मक्खी के मरने से ज़ियादा नहीं समझी जाएगी। लेकिन अगर कोई क़ैदी वहाँ से निकल भागने में कामयाब हो जाए तो ये वाक़िआ उसी क़दर अहम शुमार किया जाएगा जितना एक शेर का कटहरे से निकल जाना।

हाज़िरी-ए-दफ़्तर की ज़हमत से निजात हासिल होने के बाद सफ़री बेड़ियाँ कटवाने और वज़्न दर्ज-ए-रजिस्टर कराने की ग़रज़ से, गुज़िश्ता से उस वक़्त तक के हुए नए क़ैदियों की क़तार में बैठना पड़ा। स्वामी शिवानंद से अव्वल-अव्वल इसी मुक़ाम पर मुलाक़ात हुई, क्योंकि वो भी एक जदीद क़ैदी की हैसियत से काले कपड़ों में वहाँ मौजूद थे।

मज़कूरा-बाला ज़रूरी कारवाइयों के बाद हम (यानी राक़िम-उल-हुरूफ़ और स्वामी जी) हस्ब-ए-क़ायदा-ए-मुक़र्ररा ता-मुआइना-ए-सानी, पुरानी 'तक्लीफ़' भेज दिए गए।

इलाहाबाद सेंट्रल जेल

वाज़ेह हो कि इलाहाबाद सेंट्रल जेल के चार ख़ास हिस्से एक ही चहार-दीवारी के अंदर हैं, लेकिन अलैहिदा-अलैहिदा बने हुए हैं।

अव्वल – 'नई तक्लीफ़', जिसमें ज़ियादा-तर कम-सिन नौजवान या वे क़ैदी रखे जाते हैं जो गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस में काम करते हैं।

दोम – 'पुरानी तक्लीफ़', जिसमें आरिज़ी तौर पर आने वाले क़ैदी या जंग-जू और शूरा-पुश्त लोगों के सिवा कोठड़ियों में क़ैद-ए-तन्हाई बसर करने हर हफ़्ते कुछ क़ैदी आते-जाते रहते हैं।

पुरानी और नई तक्लीफ़ की वज़ा ये है कि हर एक बैरक में दो-रूया कोठड़ियाँ बनी हैं और दरमियान में थोड़ी जगह 'सैंटर' के नाम से ख़ाली है , फिर हर दो बैरकों के दरमियान एक खुला हुआ अहाता है जिसे जेल की ज़बान में 'अड़गड़ा' कहते हैं। यहाँ क़ैदियों के नहाने धोने, पाख़ाने वग़ैरा का इंतिज़ाम होता है।

एक नया अहाता जिसमें ज़ियादा-तर दो-तीन या ज़ियादा मर्तबा के सज़ा-याफ़्ता क़ैदी रहते हैं। इन दोनों अहातों की बैरकों में कोठड़ियाँ नहीं हैं, बल्कि हर बैरक में दू-रूया बराबर बराबर 40 या 45 मिट्टी के चबूतरे क़ैदियों के लेटने के वास्ते बना देते गए हैं जिस का नतीजा ये है कि रात को जो चालीस पच्चास क़ैदी एक बैरक में बंद होते हैं, वो आपस में मिल के फ़ुर्सत के वक़्त बातचीत भी कर सकते हैं।

'नई तक्लीफ़' जेलर के तहत में रहती है। पुराने और नए अहातों के लिए अलैहिदा-अलैहिदा यूरोपीयन, नाइब जेलर और वार्डर और पुरानी तक्लीफ़ के वास्ते उमूमन एक हिन्दुस्तानी वार्डर मुक़र्रर होता है। जेल में इन मुख़्तलिफ़ हिस्सों की अच्छाई बुराई का अंदाज़ा वहाँ के हुक्काम की अच्छाई बुराई से किया जाता है। मस्लन हमारे ज़माने में जेलर नीज़ यूरोपीयन और हिंदोस्तानी वार्डर नेक मशहूर थे, इसलिए नए अहाते नीज़ नई और पुरानी तक्लीफ़ को क़ैदी ग़नीमत शुमार करते थे, लेकिन नाइब जेलर की सख़्ती का हर शख़्स शाकी था, चुनाँचे इसी बाइस से पुराने अहाते के नाम से क़ैदी ख़ौफ़ खाते थे, वहाँ की सख़्तियों के क़िस्से रोज़ क़ैदियों की ज़बानी सुनने में आते थे, लेकिन न मालूम था कि चंद ही दिन में हम को उसी अहाते में जाना और फिर वहीं तमाम ज़माना-ए-क़ैद बसर करना पड़ेगा।

अब हर एक बैरक का इंतिज़ाम सुनिए कि इन तीस-चालीस क़ैदियों में से जो एक बैरक में बंद किए जाते हैं, कम-अज़-कम तीन बर्क़-अंदाज़ क़ैदी, नंबरदार, या निगरान-कार, कम अज़ कम छः पहरे वाले और बाक़ी मामूली क़ैदी होते हैं। हर पहरे वाला रात को दो घंटे पहरा देता है जिस का तरीक़ ये है कि एक सिरे से तमाम क़ैदियों को शुमार कर लेने के बाद शुमार-कुनिंदा आख़िर में ख़ुद को भी शुमार कर के बैरक के मुक़फ़्फ़ल दरवाज़े के क़रीब आकर ब-आवाज़-ए-बुलंद रिपोर्ट देता है, मसलन बीस क़ैदी बैरक नंबर 5 में बंद हों तो पहरे वाला यूँ कहेगा:

‘एक, दो, तीन चार .... सतरह , अठारह , उन्नीस , हम ब-बीस हैं, बीस क़ैदी। ठीक हैं साहब, ताला जंगला सब ठीक है, नंबर पाँच।’

रात को चार पाँच बार मुलाज़िमीन-ए-जेल की रौंद नद आती है, इस वक़्त पहरे-दार की जगह बर्क़-अंदाज़ रिपोर्ट देता है, क्योंकि रात-भर के अंदर हर क़िस्म की जवाब-देही बर्क़-अंदाज़ों ही के ज़िम्मे होती है। इस ज़िम्मेदारी के इवज़ में क़ैदियों पर उनको इख़्तियार भी कुछ हासिल होता है, चुनाँचे जिस तरह जेल के मुख़्तलिफ़ अहातों की अच्छाई या बुराई का दार-ओ-मदार वहाँ के हाकिमों की नेकी या बदी पर होता है, उसी तरह से अहाते के अंदर बैरकों का पसंदीदा या ना-पसंदीदा होना बर्क़-अंदाज़ों की नेकी या बदी पर हुआ करता है।

‘पुरानी तक्लीफ़’ में हमारी और स्वामी जी की बैरक के सब बर्क़-अंदाज़ नेक, पढ़े-लिखे और हम लोगों पर ख़ासकर मेहरबान थे। ज़िला फर्रुख़ाबाद के मुंशी झुम्मन लाल क़ैदियों के कपड़ों और तौक़-ए-गुलू की तख़्तियों पर नंबर डालने की ख़िदमत पर मुतअय्यन थे। ज़िला फ़ैज़ाबाद के मुंशी नवल बिहारी लाल ग़ल्ला गोदाम में मुंशी थे और ज़िला बरेली के दारोग़ा नारायण दास पुरानी तक्लीफ़ के मुहर्रिर थे।

बर्क़-अंदाज़ों को पोशाक आम क़ैदियों से बेहतर मिलती है, ख़ूराक में क़ाइदे की रु से तो कुछ फ़र्क़ होता नहीं, लेकिन निस्बतन साहिब-ए-इख़्तियार होने के सबब से वो लोग ब-तौर-ए-ख़ुद बेहतर ख़ूराक का इंतिज़ाम कर सकते हैं, उन्हें काग़ज़-पैंसिल रखने की भी इजाज़त है और ब-ज़रूरत अहाता-ए-जेल के अंदर जहाँ चाहें जा सकते हैं।

स्वामी जी को दारोग़ा साहब रोज़ सुब्ह गेहूँ का दलिया मंगा देते थे और शाम को हम दोनों के लिए साफ़ रोटियाँ और तरकारी बहम पहुँचाते थे, बल्कि स्वामी जी और दारोग़ा साहिब की ख़ातिर से दूसरी बैरकों के बर्क़-अंदाज़ भी जब कभी खुफ़िया तौर पर कोई ग़ैर-मामूली चीज़ पकवाते थे, तो हम लोगों का भी हिस्सा लगाया जाता था। स्वामी जी के ज़िम्मे बान बटने का काम था, इसलिए उन्हें कहीं जाना न पड़ता था, लेकिन राक़िम-उल-हुरूफ़ को चक्की पीसने की ग़रज़ से पुराने या नए अहाते में जाना ज़रूरी था, नए अहाते में दुबारा क़ैदी चक्की पीसते हैं, इसलिए वहाँ उमूमन आटा मोटा पीसा जाता है और उनसे कोई तअर्रुज़ भी नहीं करता, क्योंकि वो लोग बे-बाक और मार-धाड़ से बिल्कुल बे-ख़ौफ़ होते हैं, इस के बर-ख़िलाफ़ पुराने अहाते में यक-बारा क़ैदी मुआमलात-ए-जेल से नावाक़िफ़ और मुलाज़िमों की ज़द-ओ-कूब और सब्ब-ओ-शत्म से हर वक़्त ख़ाइफ़ रहते हैं, इस लिए उन से आटा बहुत बारीक पिसवाया जाता है।

बैरक नंबर 7

दारोग़ा साहब ने पहले रोज़ राक़िम को नए अहाते को भिजवाया। नए अहाते का वार्डर नेक था। इसलिए चक्की-ख़ाने के बर्क़-अंदाज़-ओ-दफ़्अ-दार ने राक़िम पर कोई ख़ास सख़्ती न की, बल्कि दारोग़ा की सिफ़ारिश से रिआयत ही का मुस्तहिक़ समझा, लेकिन दूसरे ही रोज़ नाइब-जेलर का हुक्म आ गया कि अलीगढ़ वाले क़ैदी को पुराने अहाते भेज दो और वो चक्की पीसने नए अहाते में न जाने पाए।

क़रीब-ए-शाम जब हम सब ने अहाते से काम करके 'पुरानी तक्लीफ़' हस्ब-ए-मामूल अपनी बैरक में बंद होने के लिए आए तो दारोग़ा साहिब और स्वामी जी को ख़ामोश और रंजीदा पाया, दरियाफ़्त करने पर मालूम हुआ कि उसी वक़्त मुझ को पुराने अहाते में जाना और स्वामी जी से जुदा होना होगा। दारोग़ा साहिब ने स्वामी जी की फ़र्माइश से राक़िम-उल-हुरुफ़ की आख़िरी दावत के लिए कुछ पूरियाँ और कुछ हल्वा तैयार कर रखा था।

स्वामी जी ने मुझे अलैहिदा ले जा कर ख़ुद खिलाया। खाने के बाद हम दोनों बग़ल-गीर हो कर ब-ग़ायत-ए-अफ़्सोस-ओ-अफ़्सुर्दगी एक दूसरे से रुख़्सत हुए। इब्तिदा-ए-मुक़द्दमा-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला तक बहुत से अफ़्सोस-नाक मनाज़िर पेश-ए-नज़र होते थे, लेकिन मुझ को ख़ूब याद है कि किसी मौक़े पर मेरे आँसू नहीं निकले थे, लेकिन उस वक़्त स्वामी जी को मुज़्तर और आब-दीदा देखकर मुझसे भी ज़ब्त न हो सका और देर तक बावजूद-ए-ज़ब्त आँखें पुर-नम रहीं।

'पुरानी तक्लीफ़' से रुख़्सत हो कर पुराने अहाते में उस वक़्त पहुँचना हुआ कि बैरकें बंद हो रही थीं, नाइब जेलर, जिनके तहत में वो अहाता था उस वक़्त पाँच नंबर को बंद कर रहे थे। दफ़्अ-दार ने मुझ को ले जा कर वहीं पेश किया, लेकिन कुछ मश्वरा करने के बाद ये हुक्म हुआ कि इस को पाँच नंबर में नहीं, बल्कि सात नंबर के पिछले हिस्से में बंद करो।

पाँच नंबर के बर्क़-अंदाज़ ज़िला मुज़फ़्फ़रपूर के एक तालीम-याफ़्ता मुसलमान थे। उन से बाद में इस मश्वरे की हक़ीक़त दरियाफ़्त हुई कि सात नंबर का बर्क़-अंदाज़ चूँकि तमाम अहाते में बद-ज़ुबान और सख़्त मशहूर था, इसलिए मेरा उसी नंबर में रखा जाना मुनासिब समझा गया। सात नंबर के क़ैदियों को ये हुक्म पहले ही सुना दिया गया था कि नए आए हुए क़ैदी से न कोई मिले और न बात करे और बर्क़-अंदाज़ को ये हिदायत कर दी गई थी कि इस शख़्स के दिमाग़ की गर्मी निकाल दो।

पुराना अहाता तमाम जेल में तशद्दुद और सख़्ती के लिए बदनाम था, फिर उस अहाते में सात नंबर के बर्क़-अंदाज़ की सख़्ती-ओ-बद-ज़बानी भी मशहूर-ए-आम थी। इन सब पर तुर्रा ये मज़ीद सख़्ती और निगरानी के ख़ुफ़िया अहकाम थे, जिनको सुन-सुन कर मेरे लोग बहुत मुतफ़क्किर थे, लेकिन ब-मिस्दाक़-ए-'दुश्मन अगर क़वी अस्त, निगहबान क़वी-तर अस्त'। जिन लोगों से बदी की तवक़्क़ो थी, उन्हीं ने राक़िम-उल-हुरुफ़ के साथ नेकी और मुरव्वत्त का बरताव किया, जिसका ज़िक्र आगे आएगा।

बैरक नंबर 7 के क़ैदियों और बर्क़-अंदाज़ों को राक़िम के मुतअल्लिक़ पहले ही से ख़ुफ़िया अहकाम पहुँच चुके थे कि नए क़ैदी से न कोई मिले, ना बात करे। ज़ाकिर बर्क़-अंदाज़ बैरक ने, जो अपनी सख़्ती और बद-ज़ुबानी के लिए तमाम जेल में बदनाम थे, मज़ीद एहतियात की ग़रज़ से राक़िम का बिस्तर ऐन अपनी नशिस्त के सामने लगवाया ताकि हर वक़्त कानी निगरानी आसानी के साथ हो सके, लेकिन ब-मिस्दाक़-ए-'अल-इंसान हरीस अली मा मन्अ' इस रोक-टोक से क़ैदियों के दिल में मुझ से मिलने और बातचीत कर के दरियाफ़्त-ए-हाल करने का और भी इश्तियाक़ पैदा हुआ।

चुनाँचे दिन को ज़ाकिर के ख़ौफ़ से कोई बोल ना सकता था, लेकिन रात को जब सब सो जाते थे, तो ज़िला शाहजहाँपूर के पंडित तिलक राम, पहरे वाले, अपने हर गश्त में कुछ देर मेरे क़रीब ठहर कर ज़रूर मसरुफ़-ए-गुफ़्तगू होते थे। ये इस दर्जा ज़हीन थे कि थोड़ी ही देर की गुफ़्तगू में उन्होंने कुल मुआमलात को ब-ख़ूबी समझ लिया कि अख़बार किसे कहते हैं और सेडीशन किस शय का नाम है। स्वदेशी और बाईकॉट से वो पहले ही से वाक़िफ़ थे। क़ौमी तालीम और पंचायत के उसूल को भी उन्होंने बिला-तकल्लुफ़ मालूम कर लिया। और दूसरे ही तीसरे रोज़ उन्हीं तिलक महाराज के ज़रीए से तमाम बैरक वालों को मेरे मुआमले की ख़बर हो गई और फिर बैरक से निकल कर बहुत जल्द तमाम अहाते में मशहूर हो गई क्योंकि हमारे बैरक के क़ैदी क़रीब-क़रीब तमाम कारख़ानों में काम करने के लिए जाते थे। हुस्न-ए-इत्तिफ़ाक़ का करिश्मा ये भी काबिल-ए-इल्तिफ़ात है कि मिस्टर तिलक के एक पैरौ को जेल में भी हर जगह पहले-पहल तिलक ही के हमनाम लोगों से साबिक़ा पड़ा। पुरानी तक्लीफ़ में मेरठ के मशहूर शूरा-पुश्त क़ैदी तिलक सिंह ने इस का ख़ैर-मक़्दम किया, और पुराने अहाते में इब्तिदा-ए-कलाम तिलक राम से हुई।

तिलक सिंह का हाल सुनने के काबिल है, ये बुज़ुर्गसाल 26 साल से जेल में सुकूनत रखते हैं, दरमियान में कई बार रिहा हुए लेकिन हर मर्तबा चंद ही माह के बाद दोबारा किसी जुर्म की इल्लत में ख़ुशी-ख़ुशी अपने मस्कन में फिर दाख़िल हो गए। पंजाब और सूबाजात-ए-मुत्तहिदा का कोई सैंटर्ल जेल ऐसा नहीं है, जिसका हाल उन्हें ज़ाती तौर पर न मालूम हो। जब कभी ये अपने कारनामे बयान करते थे तो तमाम सामईन हमा-तन गोश हो जाते थे।

जेल में आग जलाने या हुक़्क़ा पीने की सख़्त मुमानिअत है, लेकिन तिलक सिंह ऐलानिया आग जला कर हुक़्क़ा पीते थे, और मुलाज़िमान-ए-जेल भी तंग हो कि हो कर चश्म-पोशी करते थे। जेल की कोई सज़ा ऐसी नहीं है जो उन को न मिली हो। बेड़ियाँ उनके पड़ी थीं, कोठड़ी में ये बंद रहते थे, कपड़ों के इवज़ टाट उन्हें पहनने को मिला था, लेकिन उसे भी उन्होंने जला दिया था, इस लिए एक लंगोट के सिवा और कोई कपड़ा उन के जिस्म पर न था, टाट का बिस्तर तोड़-तोड़ कर उन्होंने हुक़्क़ा पी डाला था और इन तमाम बिद्अतों के बाद भी इस दर्जा बे-बाक थे कि जब कभी जेलर या किसी दूसरे अफ़्सर का उनकी जानिब गुज़र होता था तो उस से तेल और गुड़ की फ़र्माइश ज़रूर करते और कभी-कभी पा भी जाते थे।

राक़िम के हाल पर उन की ख़ास नज़र-ए-इनायत थी। अपने पास बिठा कर जेल के कुल मुआमलात को इस ख़ुश-उस्लूबी के साथ समझा दिया था कि इतनी मालूमात साल-बा-साल के तजरुबे से भी ब-मुश्किल हासिल होतीं, बान बटते ज़ियादा न थे, लेकिन बर्क़-अंदाज़ से कभी सात-आठ सौ गज़ से कम न लिखवाते थे जिसके मानी ये हैं कि मुक़र्ररा 300 गज़ से हमेशा चार पाँच सौ गज़ ज़ियादा काम करने के सिले में आठ या दस निशान रोज़ उन्हें मिला करते थे और चौबीस निशानों के एक दिन के हिसाब से हर माह दस या बारह रोज़ रिहाई के मुस्तहिक़ ठहरते रहे।

सिलसिला बयान कहाँ से कहाँ जा पहुँचा, अस्ल में बर्क़-अंदाज़ ज़ाकिर का मज़्कूर था कि उन्हें राक़िम-उल-हुरूफ़ की सख़्त निगरानी का हुक्म था और अजब नहीं कि दर-पर्दा ग़ैर-मामूली सख़्ती करने का इशारा किया गया हो। राक़िम इन तमाम मालूमात से आगाह था, लेकिन इन से यक-क़लम बेपर्वा अक्सर फ़िक्र-ओ-तसव्वुर के दूसरे ही आलम में रहा करता था, चुनाँचे एक हफ़्ते के क़रीब इसी उन्वान से गुज़र गया कि न मैं किसी से बोला, न ज़ाकिर को मुझ से बात करने की नौबत आई। बाँदे के करीम पहलवान का बिस्तर मेरे बिस्तर से बिल्कुल मुत्तसिल होता था, वो अलबत्ता कभी-कभी शब को अपनी सरगुज़िश्त सुनाया करते थे कि पुलिस ने उन्हें बे-क़ुसूर डाकू साबित कर के पाँच साल के लिए क़ैद करवा दिया। वल्लाहु-आलम।

ग़ाज़ियाबाद के एक नौजवान अब्दुल्लाह ने भी इब्तिदा ही से मेरे साथ बड़ी हम-दर्दी और शराफ़त का बरताव किया कि जब कभी मौक़ा मिलता था, वो मेरी दिल-दही की कोशिश किया करते थे।

क़ैदी की ईद

रमज़ान-उल-मुबारक की आमद-आमद से मुसलमान क़ैदियों में एक नई रूह पैदा हो गई। इस्लामी उख़ुव्वत का जैसा ज़बरदस्त असर मैं ने इस मौक़े पर ज़िंदान-ए-फ़िरंग में महसूस किया, उस का नक़्श मेरे दिल पर हमेशा मौजूद रहेगा।

हमारी बैरक में जितने मुसलमान क़ैदी थे, तक़रीबन उन सबने रोज़ा रखने और सहर-ओ-इफ़्तार के वक़्त यकजा हो कर खाना खाने का इंतिज़ाम कर लिया था जिस से बे-सर-ओ-सामानी की इस हालत में भी इस्लाम की शान मुसावात-ओ-उख़ुव्वत, सादगी के एक अजीब-ओ-ग़रीब आलम में नुमूदार होती थी, जिसका असर हम सब के हत्ता कि ज़ाकिर के दिल ने भी क़ुबूल किया; चुनाँचे एक रोज़ वो मुझ से बिला-तक़रीब मुख़ातिब हो कर बोले, 'भाई साहब! मेरी जानिब से सख़्ती का ख़ौफ़ आप अपने दिल से निकाल दीजिए। मुझसे जो कुछ कहा गया है, वो मैं कुछ न करूँगा बल्कि आपको जिस चीज़ की ज़रूरत या जो तक्लीफ़ हो, मुझ से बे-तकल्लुफ़ कह दीजिएगा।

ज़ाकिर के इस ग़ैर-मामूली बरताव ने लोगों को हैरत में डाल दिया। यहाँ तक कि बाज़ लोग तो इस को महज़ बनावट समझते रहे, लेकिन हक़ीक़त ये है कि उन्होंने जो कुछ कहा था, सच्चे दिल से कहा था, जिसका सुबूत ये है कि इस के बाद जब तक वो बैरक में रहे, रोज़ाना शाम को अपने कारख़ाने से इफ़्तार-ओ-सहर के लिए मुख़्तलिफ़ क़िस्म की चीज़ें पका कर लाते थे और सब के साथ खाते थे। लेकिन आठ ही दस दिन के बाद वो दफ़्अतन बीमार हो कर अस्पताल भेजे गए और फिर वहीं से हिन्दोस्तान में हुकूमत-ए-बर्तानिया की पंजाह-साला जूबिली की ख़ुशी के मौक़े पर रिहा हो गए।

जिन लोगों की मशक़्क़त चक्की-ख़ाने में थी, उन को रमज़ान में सबसे ज़ियादा दुश्वारी पेश आई, क्योंकि जल्द-जल्द पानी पीना चक्की पीसने के लवाज़िमात में दाख़िल है। इलावा-बरीं बे खाए पिए एक मन गेहूँ पीसना यूँ भी कुछ आसान काम नहीं है। लेकिन अक्सर मुसलमान बहादुरों ने बावजूद इन तमाम सख़्तियों के रोज़ा तर्क न किया, रहमत-ए-इलाहीने भी हम लोगों को फ़रामोश नहीं किया, क्योंकि लोग ये देख कर तअज्जुब करते थे कि दिन में दस-दस, बीस-बीस बार पानी पीने वाले एक-बार भी पानी पिए बग़ैर इतनी सख़्त मेहनत किस तरह से कर लेते हैं।

अल-ग़रज़ एक-एक कर के माह-ए-रमज़ान भी ख़त्म होने को आया और आख़िरी जुम्अ को ज़िला बिजनौर के मीर मुज़फ़्फ़र हुसैन साहब 'फ़ौक़' की तहरीक पर नमाज़ अदा करने का बंद-ओ-बस्त किया गया। राक़िम-उल-हुरूफ़ ने ज़बानी ख़ुत्बा और उसी वक़्त के लिखे हुए चंद अलविदाई अशआर पढ़ कर नमाज़ पढ़ाई।

दो ही चार रोज़ के बाद ईद-उल-फ़ित्र की तक़रीब पेश आई, लोगों की ज़बानी मालूम हुआ कि इलाहाबाद सैंट्रल जेल में ईद की तातील का दस्तूर न था लेकिन इत्तिफ़ाक़ से किंग ऐडवर्ड आँ-जहानी का ऐलान बाबत मुआफ़ी-ए-क़ैद-ए-मुजरिमान-ब-तक़रीब-ए-जश्न-ए-पंजाह-साला हुकूमत-ए-बर्तानिया उसी रोज़

हुक्काम-ए-जेल को मिला जिसने ईद की ख़ुशी को दो-बाला करने के इलावा तातील को भी लाज़िमी कर दिया। जज़्बा-ए-उम्मीद की ख़ुश-गवारी और नूरी तासीर का जैसा दिल-चस्प समाँ जेल ख़ानों में नज़र आता है, उस की मिसाल ग़ालिबन कहीं और न मिल सकेगी।

जूबिली या ब-ज़बान-ए-अवाम जुगली की खुफ़िया से खुफ़ुया ख़बर या अफ़्वाह तर्फ़त-उल-ऐन में तमाम जेल में मशहूर हो कर क़ैदियों के चेहरों को सुरूर-ए-उम्मीद से मुनव्वर कर देती है और हर शख़्स अपनी रिहाई के ख़याल से कम-अज़-कम थोड़ी देर के लिए अपने मुसाइब को फ़रामोश कर देता है।

ग़ाज़ियाबाद ज़िला मेरठ के अब्दुल्लाह का ज़िक्र पहले आ चुका है। उस नेक दिल नौजवान ने ब-ख़ुलूस-ए-कामिल मेरे इन्कार और मुमानिअत की मुत्लक़ पर्वा न कर के बा-इसरार मेरी ऐसी ख़िदमत की जिसका मैं मुद्दत-उल-उम्र ममनून-ए-एहसान रहूँगा। बिला-नाग़ा मेरे खाने-पीने के बर्तनों की सफ़ाई, मेरे बिस्तर का बैरक से बाहर निकालना और फिर अंदर ले जाना। चक्की-ख़ाने में अपना काम ख़त्म कर के मेरी मदद को आना उसने अपने ऊपर लाज़िम कर लिया था। ईद के रोज़ भी मालूम नहीं, कहाँ से चंद लकड़ियाँ फ़राहम कर के उन से एक गोशे में छुपा के मेरे ग़ुस्ल के लिए पानी गर्म किया और कपड़े धो कर साफ़ कर दिए।

ईद के रोज़ थोड़ी देर के लिए तमाम मुसलमान क़ैदियों को इजाज़त मिलती है कि वो जेल अस्पताल में जमा हो कर नमाज़ पढ़ लें, चुनाँचे उस रोज़ भी पुरानी तक्लीफ़ नई तक्लीफ़ और नए अहाते से सब लोग आए थे, लेकिन हमारे अहाते के वार्डर ने अपनी मामूली सख़्ती से काम लेकर हम लोगों को अहाते से बाहर जाने की इजाज़त न दी। मजबूरन हम 60-70 लोगों को अलैहिदा नमाज़ पढ़ना पड़ी। नमाज़ के बाद लोगों के इसरार से राक़िम-उल-हुरूफ़ ने मुख़्तसर-सा वाज़ भी किया, जिसमें तमाम फ़राइज़ इस्लाम की उमूमन और फ़रीज़ा-ए-सोम की ख़ूबियाँ ख़ुसूसन हाज़िरीन के गोश गुज़ार की गई थी

नमाज़-ए-ईद के बाद सारा दिन जूबिली के तज़्किरों में सर्फ़ हुआ, शाह ऐडवर्ड हफ़्तुम का फ़रमान ये था कि तमाम क़ैदियों को क़ैद मुआफ़ की जाए या उस में तख़फ़ीफ़ हो लेकिन ग़ालिबन दरमियानी लोगों को दर-अंदाज़ी का अफ़सोस-नाक नतीजा ये हुआ कि मुआफ़ तो किसी की भी क़ैद न हुई अलबत्ता फ़ी साल एक माह के हिसाब से रिहाई कुल क़ैदियों के टिकटों पर चढ़ा दी गई, मगर तुर्फ़ा-तमाशा ये हुआ कि तीन माह के बाद रोज़ाना दस बीस लोगों की जुबलियाँ ख़ारिज होना शुरूअ हुईं, जिससे शाही ऐलान की हद दर्जा सुबकी हुई। हक़ीक़त-ए-हाल से ना-वाक़िफ़ क़ैदी बे-गुनाह बादशाह को ऐलानिया बुरा-भला कहते थे कि दे कर किसी चीज़ का वापिस लेना कम-ज़र्फ़ लोगों का शेवा है, बादशाहों का तरीक़ा नहीं है।

इस रिआयत से पॉलीटिकल क़ैदियों की महरूमी का क़िस्सा हम पहले ही दर्ज कर चुके हैं। मुझ को भी एक रोज़ मा-टिकट अपने रु-ब-रु तलब कर के सुपरिंटेंडेंट साहिब ने इरशाद फ़रमाया कि तुमको जुबली नहीं मिलेगा और हर माह की रिहाई मेरे टिकट से ख़ारिज कर दी, मैं ने अता-ए-तू ब-लिक़ा-ए-तू कह कर ख़ामोशी इख़्तियार की। ये पैंतालीस दिन तो गोया चश्म-ज़दन में गुज़र गए, लेकिन अहल-ए-फ़िरंग की इस तंग-दिली का अफ़साना हमेशा के लिए यादगार रह गया।

बर-गर्दन-ए-ऊ ब-मानद-ओ-बर-मा बुगुज़िश्त

चक्की की मशक़्क़त

इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में चक्की की मशक़्क़त सबसे ज़ियादा सख़्त है, क्योंकि वहाँ राम-बाँसी या बाथी चंगार कूटने की मशक़्क़त मौजूद ही नहीं है, जो चक्की से भी बदतर समझी जाती थी, जिस की निस्बत हर जेल में ये शेर क़ैदियों की ज़बान-ज़द है:

जेल-ख़ाने का बुरा रवय्या कोई किसी का यार नहीं
राम बाँस की कड़ी मशक़्क़त चक्की से इन्कार नहीं

राक़िम-उल-हुरूफ़ के हाल पर हुक्काम-ए-जेल की ये ख़ास इनायत थी कि तक़रीबन तमाम मुद्दत-ए-क़ैद इसी मशक़्क़त में बसर हुई, क़ायदे की रु से फ़ी-क़ैदी 15 सेर के हिसाब से दो क़ैदियों को 30 सेर ग़ल्ला पीसना चाहिए, लेकिन इलाहाबाद में 30 सैर के बजाए 40 सेर पिसवाते हैं , जिसके इवज़ में हर सह-माही पर दो या तीन दिन रिहाई के दिए जाते हैं , बशर्त-कि इस अर्से में कोई क़ुसूर ऐसा न सरज़द हो जाए जिस से पेशी की नौबत आ जाए और लेने के देने पड़ जाएँ।

क़ैदी जब कोई जेल का जुर्म करता है तो उसे वार्डर सज़ा के लिए सुपरिंटेंडेंट के रूबरू पेश करता है। इसी का इस्तिलाही नाम पेशी है, जिस की अजीब-ओ-ग़रीब वारदातें तक़रीबन हर-रोज़ चक्की-ख़ाने में पेश आती हैं। अगर चालीस सेर से छटाँक-आध पाव भी कम हो जाए तो पेशी, अगर आटा ज़रा भी मोटा भी रह जाए तो पेशी, अगर आटे में ज़रा भी मिट्टी या पानी मिलाए जाने का शुब्ह हो तो पेशी।

मिट्टी या पानी मिलाए जाने का मुआमला इस तौर पर है कि बाज़ क़ैदी काफ़ी ख़ूराक न पाने के सबब से मजबूरन कच्चा ग़ल्ला चबा जाने पर मजबूर होते हैं और बाद में आटा पूरा करने के लिए गेहुओं में मिट्टी और जवार या चावलों में पानी मिला देते हैं। जो लोग नहीं खाते उन्हें भी कुछ न कुछ मिलाना ज़रूर पड़ता है वर्ना ज़ाहिर है कि आटा पीसने के दौरान में कुछ तो चक्की में रह जाता है और कुछ उड़ कर हवा में मिल जाता है, कुछ पीसने वालों के बदन पर पसीने के साथ जम जाता है।

दारोग़ा साहिब ऐलानिया फ़रमाते थे कि जो चाहो करो, हमको आटा पूरा दो, वर्ना हम पेशी कर देंगे; चुनाँचे चक्की-ख़ाने का बर्क़-अंदाज़ भी डर के मारे ख़ुद ही क़ैदियों को मिट्टी छुपा कर ले आने की इजाज़त दे देता था। एक रोज़ एक बद-तीनत क़ैदी की बर्क़-अंदाज़ से इस बिना पर कुछ हुज्जत हो गई थी कि बर्क़-अंदाज़ ने उसे ग़ल्ला चुरा कर न ले जाने दिया था। इस का नतीजा ये हुआ कि क़ैदी दफ़्अ-दार को बुलाया और कहा कि बर्क़-अंदाज़ पानी मिलवाता है। क़िस्मत की ख़ूबी देखिए कि सबसे पहली चक्की मेरी थी जिस के पास ही मेरा साथी ब-क़द्र-ए-ज़रूरत यानी क़रीब आध या पौन पाव के पानी मिला रहा था। मुझ को इस वाक़िए की ख़बर न थी

क्योंकि आम तौर पर मैं रोज़ाना ग़ल्ला पीसने के बाद चक्कियों के जानिब-ए-पुश्त जा कर ज़मीन पर लेट रहा करता था। हंगामा बरपा होने पर मैंने भी देखा तो मालूम हुआ कि मेरा साथी गिरफ़्तार है, उस के पास या मेरेपास कुछ पैसे दफ़्अ-दार को देने के लिए होते तो मुआमला रफ़ा-दफ़ा हो जाता। लेकिन चूँकि हम दोनों नादार थे , इसलिए पेशी हुई और कच्चा ग़ल्ला खा जाने के इल्ज़ाम में तीन दिन रिहाई ज़ब्त हो गई।

सुपरिंटेंडेंट साहिब की मुस्कुराहट से ये साफ़ ज़ाहिर होता था कि उन्हें मेरी निस्बत ग़ल्ला खाने का गुमान नहीं है , लेकिन उसूल-ए-जेल के मुताबिक़ किसी मातहत के पेश करने पर सज़ा का देना लाज़िमी था, वर्ना उस की सुब्की होती। मेरे मुतअल्लिक़ पेशी का ये दूसरा वाक़िआ था। पहला वाक़िआ इस से भी ज़ियादा दिल-चस्प है, चक्कियाँ उमूमन इस क़दर वज़्नी होती हैं कि एक शख़्स को उनके ऊपर का पाट उठाना भी मुश्किल होता है इस लिए दो शख़्स एक चक्की पर आमने सामने खड़े हो कर पीसते हैं और अगर बराबर पीसे जाएँ तो सुब्ह 4 बजे से लेकर सह-पहर के तीन बजे तक ग़ल्ला पिस जाता है, लेकिन शर्त ये है कि दोनों पीसने वाले बराबर ज़ोर लगाएँ।

मेरी निस्बत वार्डर को ये गुमान था कि इस से चक्की न पिस सकेगी, लेकिन जब दूसरे दिन बर्क़-अंदाज़ से दरियाफ़्त करने पर उस को मालूम हुआ कि मैंने पहले ही रोज़ अपना काम मुक़र्ररा वक़्त से पहले ही ख़त्म कर दिया था तो उसे यक़ीन न आया और बर्क़-अंदाज़ से ऐसी बातें कीं जिन से उस ने अपनी समझ के मुताबिक़ ये नतीजा निकाला कि मेरी निस्बत वार्डर का मंशा ये है कि उस की पेशी हो जाए, चुनाँचे तीसरे दिन उसने मुझे सब से ख़राब चक्की दी और मेरे जोड़ीदार को समझाया कि तुम ढील दे देना तुम्हें हम पेशी पर न भेजेंगे। नतीजा इस का ये हुआ कि दस सेर ग़ल्ला बाक़ी रह गया, क़ाइदे के मुताबिक़ हम दोनों की पेशी होनी चाहिए थी, लेकिन हस्ब-ए-क़रार-दाद-ए-साबिक़ मेरी पेशी हुई और दो दिन के लिए रात को हथकड़ियाँ डालने की सज़ा तज्वीज़ हुई। मैं चाहता था कि सुपरिंटेंडंट से सब हाल कह दूँ, लेकिन बर्क़-अंदाज़ को पेटी उतार कर ज़ूद-कूब पर आमादा पा कर मैंने ख़ामोशी इख़्तियार की और मुआमले को ख़ुदा के सपुर्द किया।

मश्क़-ए-सुख़न

सुब्ह से शाम तक चक्की पीसना बजा-ए-ख़ुद एक सख़्त मुश्किल काम था। लेकिन राक़िम-उल-हुरूफ़ के लिए इस से भी ज़ियादा तक्लीफ़-देह अम्र ये था कि इब्तिदा-ए-क़ैद से ले कर आख़िर तक कोई किताब, रिसाला या अख़बार किसी क़िस्म का पढ़ने को ना मिला। ग़ौर करने का मुक़ाम है कि शब रोज़ में जिस शख़्स का तक़रीबन कुल वक़्त शग़्ल-ए-नविश्त-ओ-ख़्वांद में गुज़रता हो, उसे दफ़्अतन इन तमाम दिलचस्पियों से यक-क़लम अर्सा-ए-दराज़ के लिए अलैहिदा कर देना कितने बड़े जब्र की बात है।

मालूम होता है कि मेरी निस्बत सुपरिंटेंडेंट ने अपने मातहतों को ख़ास ताकीद कर दी थी कि काग़ज़, क़लम, पैंसिल, किताब या अख़बार तक इस शख़्स को किसी तरह दस्तरस न हो सके। इस ख़ास सख़्ती के सबब से चक्की पीसने के दौरान में जितने शेर ख़याल में आते थे, उन्हें अक्सर कई-कई दिन तक ब-कोशिश तमाम ज़हन में महफ़ूज़ रखना पड़ता था। इन ग़ज़लों के जमा होने और ब-हिफ़ाज़त, जेल से बाहर पहुँचाने के लिए बड़ी जद्द-ओ-जहद करना पड़ती थी।

चक्की पीसने वालों की निगरानी एक क़ैदी नंबरदार के सपुर्द होती थी। राक़िम-उल-हुरूफ़ चूँकि साल भर के क़रीब चक्की-ख़ाने में रहा, इसलिए सैंकड़ों क़ैदियों और मुतअद्दिद नंबर-दारों के वहाँ आने और तब्दील होने का अजीब-ओ-ग़रीब नज़ारा देखने में आया। तंदरुस्त नए क़ैदियों को उमूमन पहले चक्की ही दी जाती है, इसलिए नए आने वालों से सब से पहले मुलाक़ात का मौक़ा चक्की-ख़ाने वालों ही को हासिल होता है। नवंबर 1908 में मिन-जुम्ला दीगर नौ-वारिद क़ैदियों के अख़बार स्टेट्स-मैन कलकत्ता के मैनेजर मिस्टर रफ़ैल के बेटे भी थे , जिन्होंने अपने मुक़द्दमे का फ़ैस्ला ब-ज़रीआ-ए-ज्यूरी कराने से इन्कार कर के ना-दानिस्ता तौर पर यूरेशियन होने का हक़ खो दिया था और देसी ईसाईयों के ज़ुमरे में ब-जब्र शामिल कर दिए गए थे, एक अर्से के बाद एक अंग्रेज़ी-दाँ शख़्स से मिलकर निहायत ख़ुशी हुई, ज़ियशदा-तर मसर्रत का बाइस ये था कि मिस्टर रफ़ैल कुछ-कुछ अख़बारी दुनिया के हालात से भी आगाही रखते थे।

ज़माना-ए-हवालात में भी उन को पाइनीयर वग़ैरह पढ़ने को मल जाया करता था, क्योंकि उस वक़्त तक उनके साथ यूरेशियनों ही का सा बरताव किया जाता था। और तो सब ख़बरें उन्होंने सही बताईं, लेकिन मिस्टर तिलक की निस्बत जो उम्मीद उन्होंने ज़ाहिर की थी कि वो ग़ालिबान प्रेवी कौंसिल में अपील से रिहा हो गए होंगे, बाद में ग़लत साबित हुई। मिस्टर तिलक की फ़र्ज़ी रिहाई का मुज़्दा सुन कर राक़िम ने अपनी दिली मसर्रत का इज़हार फ़िल-बदीह ग़ज़ल के ज़रीए' से किया था , जिसका मतला इस वक़्त तक याद है

नसीम-ए-सुब्ह-गाही ये पयाम-ए-जाँ-फ़ज़ा लाई
तिलक को बे-गुनाही उन को लंदन से छुड़ा लाई

स्वामी शिवानंद ने भी एक हिन्दी चीज़ इस मौक़े पर तस्नीफ़ की थी जिस का एक-एक लफ़्ज़ रंग-ए-तासीर में डूबा हुआ था। ख़ैर मिस्टर रफ़ैल को दो ही चार रोज़ चक्की पीसने के बाद इस बला से नजात मिल गई और वो जेल प्रैस में प्रफ़-रीडरी पर भेज दिए गए। एक मिस्टर रफ़ैल पर ही क्या मौक़ूफ़ है, जितने लोग चक्की-ख़ाने में थे, सब अपने अपने वक़्त पर यानी कोई एक हफ़्ता, कोई पंद्रह रोज़, कोई एक महीना और कोई हद दर्जा तीन महीने रह-रह कर दूसरी आसान मशक़्क़तों पर चले गए। हुक्काम-ए-जेल की ख़ास इनायत से ये फ़ख़्र इस ख़ाकसार ही को हासिल हुआ कि तक़रीबन सारा ज़माना-ए-क़ैद इसी एक मनहूस शग़्ल में गुज़ारना पड़ा, जेल में हर दूसरे या तीसरे महीने चक्की पीसने वालों का मुआइना ख़ास इसी ग़रज़ से हुआ करता है कि जो क़ैदी वज़्न में कम हो गए हों , या जिनको चक्की पीसते कई महीने गुज़र चुके हों, वो किसी दूसरे आसान काम पर भेज दिए जाएँ।
राक़िम-उल-हुरुफ़ के ज़माने में तीन चार बार ऐसे मुआइने हुए जिनमें तक़रीबन तमाम पुराने साथियों की मशक़्क़तें तब्दील कर दी गईं, लेकिन ये कम-तरीन जहाँ था, वहीं रहा। एक बार जेलर ने ख़ास कर मेरे लिए तबदीली-ए-मशक़्क़त की सिफ़ारिश भी की और सुपरिंटेंडेंट को मेरे वज़्न की ग़ैर-मामूली कमी से भी आगाह किया। (दाख़िला-ए-जेल से क़ब्ल राक़िम-उल-हुरुफ़ का वज़न 132 पौंड था, लेकिन इस वक़्त सिर्फ़ 108 पौंड बाक़ी रह गया था) लेकिन सुपरिंटेंडेंट की क़सादत-ए-क़ल्ब ने इस की जानिब भी कुछ तवज्जोह न की और मेरे टिकट को वापिस कर दिया।
हर रोज़ सुब्ह को सब क़ैदी जाँघिया, कुर्ता, तसला, कटोरी चक्की-ख़ाने के बाहर परेड में लगा कर सिर्फ़ एक लंगोटी बाँधे हुए अंदर दाख़िल हो जाते हैं और उन सब की गिनती ले कर दफ़्अ-दार बाहर से दरवाज़ा बंद कर के क़ुफ़्ल लगा देता है, खाने के वक़्त दरवाज़ा फिर खोला जाता है, इस से क़ब्ल अगर किसी को रफ़ा हाजत के लिए दफ़्अ-दार को दरवाज़ा खोलने की तक्लीफ़ देना पड़े, तो इस तकलीफ़-देही का इवज़ अक्सर डंडों और सोंटों की शक्ल में यक़ीनन मिलता है, कई क़ैदियों को तो इस जुर्म में इतनी सज़ा मिली कि अर्से तक उनके आज़ा मजरूह बाक़ी रहे। क़ैदियों के मारने पीटने की कानून ज़रूर मुमानिअत है, लेकिन जब ख़ुद्दार वार्डर क़वाइद-ए-जेल की पाबंदी नहीं करते तो उन के मातहत दफ़्अ-दारों से इस की उम्मीद रखना अबस है।
हमारे सामने इस्माईल क़ैदी को बे-रहम वार्डर ने इस क़दर मारा कि उस का तमाम जिस्म ज़ख़्मी हो गया और फिर उल्टी सुपरिंटेंडेंटसे शिकायत कर के उस के पैरों में बेड़ियाँ डलवा दीं , क़ुसूर उस का सिर्फ़ इतना था कि हाथ में ज़र्ब आ जाने के सबब से उसने चक्की पीसने से अपनी माज़ूरी ज़ाहिर की थी।

बगदाद का कन्हैया

जब कभी गोदाम में ज़रूरत से ज़ियादा आटा जमा हो जाता है तो दो एक रोज़ के लिए चक्की वाले क़ैदी किसी दूसरे काम पर भेज दिए जाते हैं, ज़ियादा-तर उन्हीं कटिंग मशीन पर कड़बी काटने या बिनौले साफ़ करने की ख़िदमत मिलती है। लोग इस तब्दीली को बहुत पसंद करते हैं, क्योंकि इसी बहाने से कम-अज़-कम अपने अहाते से बाहर निकलने और दिन-भर खुले मैदान में रहने का मौक़ा मिल जाता है।

लेकिन राक़िम-उल-हुरूफ़ इस आरिज़ी लुत्फ़ से भी महरूम रहा, क्योंकि जब कभी ऐसा मौक़ा होता था तो वार्डर मुझ को बाहर जाने वाले गिरोह से अलग कर के चक्की-ख़ाने ही में बंद कर दिया था और क़हर-ए-दरवेश ब-जान-ए-दरवेश, उस रोज़ अकेले ही चक्की पीसना पड़ती थी, सिर्फ़ एक बार ऐसा इत्तिफ़ाक़ गुज़रा कि वार्डर की अदम-मौजूदगी में मैं भी और लोगों के साथ अहाते से बाहर गया। बिनौले साफ़ करने की मशीन हमारे अहाते से किसी क़दर फ़ासले पर एक ऐसी जगह पर नसब थी जहाँ चारों जानिब दरख़्तों और झाड़ियों की मौजूदगी से नवाह-ए-देहात की सूरत पैदा हो गई थी।

क़ैदियों ने इस मौक़े की पूरी क़दर की, यहाँ तक कि क़ैदी नम्बर-दार ने भी थोड़ी देर के लिए अपनी सख़्ती को बाला-ए-ताक़ रख दिया। क़ैदियों के दो गिरोह कर दिए गए थे, जो बारी-बारी से बैलों की तरह मशीन को घुमाते थे। हर गिरोह अपने वक़्त-ए-फ़ुर्सत को कुश्ती लड़ने, हँसी-मज़ाक़ या राग-रागनी में सर्फ़ करता था। हमारे गिरोह में ज़िला झाँसी का एक मीरासी ग़ौसू नाम था। लोगों के इसरार से उस ने उर्दू हिन्दी की कई चीज़ें ख़ूब गाईं।

राक़िम-उल-हुरूफ़ की तबीअत को चूँकि मौसीक़ी से एक फ़ित्री उन्स है, इसलिए ग़ौसू की नग़्मा-संजी ने दिल पर क़यामत का असर किया। इस गाने की तासीर इस हुस्न-ए-इत्तिफ़ाक़ से और भी ज़ियादा हो गई कि हिन्दी चीज़ ग़ौस पाक महबूब-ए-सुब्हानी हज़र सय्यद अब्दुल-क़ादिर जीलानी रहमतुल्लाह अलैहि की शान में थी जिन की गुलामी पर इस फ़क़ीर को हज़ारों नाज़ हैं। तुर्फ़ा ये कि इस ठुमरी के आख़िर में तख़ल्लुस राक़िम के अज़ीज़ बुज़ुर्ग सय्यद फ़ख़्रुल-हसन फ़ित्रत मोहानी का निकला। वो ठुमरी ये है:

संसार तिहारो नाम जिए बगदाद के मोरो कन्हैया
नेह की आग लगी तन माँ दिन रैन कहत दय्या-दय्या
कित जाए पिया चेरी तेरी सगरी हूँ पीत की मैं घेरी
गरीब नवाज उतार लो अब मोरे सर से दुखर की गागरिया
महराज दया की एक नजर फ़ितरत का सर तेरी चौखट पर
हसनैन का सद्क़ा पार मंजधार से मोरी नावरिया

चक्की-ख़ाने में पीसने का काम उमूमन वक़्त-ए-मुक़र्ररा से तो कुछ पहले ही ख़त्म हो जाया करता था, इसलिए दारोग़ा के आने तक का वक़्त बाहम क़ैदियों की बातचीत या कभी-कभी आल्हा-ऊदल की रज़्मिया नज़्म के सुनने में सर्फ़ होता था। राक़िम ने चूँकि कभी इस ला-जवाब हिंदी एपिक को ग़ौर से ना सुना था, इसलिए उस की ख़ूबियों से ना-आश्ना-ए-महज़ था। लेकिन हक़ीक़त-ए-हाल ये है कि हिन्दी ज़बान में इस से बेहतर कोई रज़्मिया नज़्म इस वक़्त मौजूद नहीं है। इस नज़्म की ख़ूबी और अवाम की नज़रों में इस की पसंदीदगी का इस से ज़ियादा और क्या सुबूत होगा कि इस वक़्त हमारे सूबे में हज़ारों आदमी ऐसे होंगे जिन्हें ये अफ़्साना अज़बर याद है। एक नैनी ही की जेल में दस बारह क़ैदी, जिन में दो मुसलमान भी थे, इस दास्तान के हाफ़िज़ भी मौजूद थे। ज़िला कानपूर के ठाकुर बासुदेव सिंह और ज़िला लखनऊ के पंडित तुलसी राम की आल्हा को हम लोग रोज़ाना बड़े शौक़ और इंतिहा दर्जे की तवज्जोह से सुना करते थे।

बंदा अहीर

राक़िम-उल-हुरूफ़ के चक्की-ख़ाने में दाख़िल होने के वक़्त दो बर्क़-अंदाज़ निगरान-ए-कार मुक़र्रर थे। एक मीर मुज़फ़्फ़र हुसैन साहिब फ़ौक़ बिजनौरी और दूसरा ज़िला बांदा का बंदा अहीर। जिनमें से मीर साहिब को तो दो ही तीन दिन में सिर्फ़ मेरी वज्ह से जेल प्रेस की निगरानी सपुर्द हो गई। बंदा से अलबत्ता बहुत रोज़ तक साबिक़ा रहा। ये वही बुज़ुर्ग हैं जिन्होंने नाइब जेलर का इशारा पा कर बिला-वज्ह मेरी पेशी करा दी थी, लेकिन बाद में अपनी ग़लती पर नादिम हुए। फ़ी चक्की दो क़ैदियों के हिसाब से चक्की-ख़ाने में जितने क़ैदियों की ज़रूरत होती है बर्क़-अंदाज़ उस तादाद से हमेशा दो एक आदमी ज़ाइद ज़रूर रखता है, ताकि अगर कोई क़ैदी दफ़्अतन बीमार हो जाए या और कोई वज्ह पेश आ जाए तो काम बंद न रहे।

इन ज़ाइद आदमियों की निस्बत बर्क़-अंदाज़ को इख़्तियार हासिल रहता है कि उन से कोई काम न ले या ले भी तो महज़ बराए-नाम। मस्लन किसी कमज़ोर क़ैदी की मदद कर देना या किसी देर से काम ख़त्म करने वाले का आटा छनवा देना वग़ैरा। अगर मुख़्बिरी का डर न होता तो मुझे ज़ाइद लोगों के ज़ुमरे में दाख़िल कर लेने से ग़ालिबन बंदा को इन्कार न होता, लेकिन नाइब जेलर के ख़ौफ़ से उस ग़रीब को कभी मेरे साथ रिआयत करने की हिम्मत नहीं हुई और रमज़ान शरीफ़ का पूरा महीना मुझ को चक्की ही पीसते गुज़रा। बंदा इस मुसीबत में मेरे साथ हम-दर्दी ज़रूर करता था, लेकिन मुख़्बिरों की मुख़्बिरी और नाइब जेलर की बे-रहमी के ख़याल से बेचारा बिल्कुल मज्बूर था। बंदा के बाद अमरोहे के मुंशी ईज़िद-बख़्श बर्क़-अंदाज़ हुए, उन्होंने कुछ दिनों तक तो बंदा ही की पैरवी की, लेकिन आख़िर-कार इतनी रिआयत करने लगे कि जब कभी मौक़ा होता था तो वो मुझसे काम न लेते थे। दिसंबर के आख़िरी और जनवरी के इब्तिदाई हफ़्तों में उनकी ये रिआयत मुझको बहुत ग़नीमत मालूम होती, क्योंकि ऐसी सख़्त सर्दी में बिल्कुल बरहना-तन हो कर चक्की पीसने के लिए दिन बब्बर खड़े रहना कारे दारद का मज़्मून था।

ईज़िद-बख़्श के बाद रक्सौल ज़िला मुज़फ़्फ़रपूर के मुंशी अब्दुल हक़ आए। ये साहब हज़रत 'फ़ौक़' की तरह शायर तो ना थे, ताहम कुछ न कुछ शौक़-ए-शेर-ओ-शायरी से ज़रूर रखते थे। एक रोज़ वो अपने हमराह मुतफ़र्रिक़ अशआर-ओ-ग़ज़लियात का एक मज्मूआ भी लाए जिसे जेल-प्रेस के किसी ख़ुश-मज़ाक़ क़ैदी ने अपने दिल बहलाने के लिए मुरत्तिब किया था।

अपना काम ख़त्म कर चुकने के बाद जब मैं उनके क़रीब से गुज़रा तो उन्होंने वो बयाज़ मुझे भी दिखाई। एक अर्सा-ए-दराज़ के बाद किताब की शक्ल देख कर जितनी मसर्रत मुझ को हासिल हुई, उस का अंदाज़ा कोई आज़ाद शख़्स, हर्गिज़ नहीं लगा सकता। लेकिन अफ़्सोस इस वाक़िए की इत्तिला किसी ना-माक़ूल ने नाइब जेलर को भी कर दी, चुनाँचे उस ने दफ़्अतन कई बर्क़-अंदाज़ों के हमराह आकर चक्की ख़ाने का मुहासिरा कर लिया और फ़र्दन-फ़र्दन हर क़ैदी को बिल्कुल बरहना करा कर तलाशी ली। मतलब तो इस का मुझ पर इल्ज़ाम लगाना था, मगर जब मेरे पास कुछ न निकला तो सारा वबाल ग़रीब अब्दुल-हक़ के सर पड़ा। उन्होंने बहुत कुछ माज़रत की,

लेकिन नाइब जेला की फ़ितरी बे-रहमी पर ज़र्रा बराबर भी असर न हुआ और उसने दूसरे ही दिन सुपरिंटेंडेंट से कह कर उनके बर्क़-अंदाज़ी तुड़वा दी और मामूली क़ैदी बना कर आगरा को चालान कर दिया।

इतवार की तातील

जेल ख़ानों में आम तौर पर इतवार के रोज़ तातील का दस्तूर है, लेकिन इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में चक्की पीसने वाले के सिवा बाक़ी और क़ैदियों को इस रिआयत से फ़ायदा उठाने का मौक़ा शाज़-ओ-नादिर ही मिलता है, क्योंकि हुक्काम-ए-जेल की हिर्स क़ैदियों को हफ़्ते हैं एक दिन की भी फ़ुर्सत गवारा नहीं करती। हुकूमत ने क़ैद-ख़ानों को अच्छे ख़ासे कारख़ानों की सूरत में तबदील कर दिया है, जिनका एक रोज़ के लिए भी बंद रहना जेल की माली आमदनी में कमी और आख़िर-ए-साल पर हुक्काम-ए-जेल की हसीन कार-गुज़ारी में नुक़्स पैदा कर देने का मूजिब हो सकता है।

मुहज़्ज़ब मुमालिक में मुजरिमों की इस्लाह ख़ुसूसियत के साथ मद्द-ए-नज़र रहती है लेकिन हिन्दोस्तान में उनसे ज़ियादा से ज़ियादा काम लेने और उन पर कम से कम ख़र्च करने के सिवा और कोई उसूल पेश-ए-नज़र नहीं रखा जाता। इत्तिफ़ाक़ी तौर पर पेट में दर्द पैदा हो जाने या बुख़ार आ जाने का उज्र कर के अगर कोई शख़्स काम करने से उज्र करे, तो शिफ़ा-ख़ाने भेजे जाने के बजाए यक़ीनन अव्वल तो उसे वार्डर और बाद-अज़ाँ नाइब जेलर के डंडों की सख़्त मार बर्दाश्त करना पड़ेगी।

क़िस्सा मुख़्तसर ये कि इतवार को भी उमूमन कुल क़ैदी या तो अपने-अपने कारख़ानों को काम के लिए भेज देते जाते हैं या कोई और बेगारी काम उन्हें दे दिया जाता है। इतवार तो इतवार ईद-ए-बक़र-ईद, मुहर्रम वग़ैरा को भी तातील का और जेलों में दस्तूर हो तो हो, नैनी में तो मुसलमानों के इन मज़हबी तहवारों का भी मुत्लक़ लिहाज़ नहीं किया जाता; चुनाँचे बक़र-ईद को मुसलमान उमूमन मजबूरन नमाज़ पढ़ने से महरूम रहे। सिर्फ़ चंद बर्क़-अंदाज़ों और बाज़ मख़्सूस क़ैदियों ने यकजा हो कर नमाज़ पढ़ी।

राक़िम-उल-हुरूफ़ को मीर मुज़फ़्फ़र हुसैन साहिब ने ख़ास तौर पर सिफ़ारिश कर के थोड़ी देर की छुट्टी दिला दी थी, वर्ना मैं भी कुछ न कर सकता। मुसलमानों के साथ तो ऐसी बे-एतिनाई और ईसाईयों पर ये मर्हमत कि बड़े दिन की तक़रीब में क़ैदियों को छुट्टी के इलावा फ़ी-कस आध-आध पाव गुड़ भी तक़्सीम किया गया। (यूरोपियन और योरेशियन क़ैदी यूँ भी जिस आराम से रहते हैं, उस का ज़िक्र हम किताब के आख़िरी सफ़्हात में करेंगे।) बड़े दिन को हुक्काम-ए-जेल की जानिब से उन सब की दावत की जाती है और तरह-तरह की मिठाइयाँ, मेवे और सिगरेट तक़्सीम किए जाते हैं। नमाज़ पढ़ाने के लिए पादरी बराबर आया करता है, मुसलमान ग़रीब अगर बजाए-ख़ुद भी चाहते हैं, तो क़वाइद-ए-हया-ओ-शरीअत के ख़िलाफ़ उन्हें मजबूरन ब-हालत-ए-नीम-बरहनगी नमाज़ अदा करना पड़ती है। अगर जाँघिया में सिर्फ़ एक या दो बालिश्त कपड़ा ज़ियादा लगाया जाए तो काफ़ी सत्र-पोशी हो सकती है, मगर ये तो हो क्योंकर हो। क़ैदियों की तो कोई कुछ सुनता ही नहीं है।

रहे आज़ाद मुसलमान, उन को अंग्रेज़ों की ख़ुशामद और मुस्लिम लीग के ज़रीए से ख़ास रिआयतें हासिल करने की कोशिश से कब फ़ुर्सत मिलती है और कभी मिले भी तो भला हुकूमत के मुक़र्रर-कर्दा क़वाइद पर एतिराज़ करने का गुनाह उन से क्यों सरज़द होने लगा।

इस मौक़े पर शायद नाज़िरीन के दिल में ये ख़याल पैदा हो कि क़ैदी इन तमाम अबतरियों की शिकायत आफ़िसरान-ए-जेल से कर के उन के इंसिदाद की फ़िक्र क्यों नहीं करते। इस का अफ़्साना तवील है, वार्डर या नाइब जेलर से किसी क़िस्म की शिकायत करना बिल्कुल फ़ुज़ूल है, क्योंकि जो कुछ सख़्तियाँ जेल में होती हैं वो या तो ख़ुद उनके इशारे से होती हैं या कम-अज़-कम उन पर उन्हें कोई एतिराज़ नहीं होता।

रहा सुपरिंटेंडेंट-ए-जेल, उस तक अव्वल तो किसी की रसाई नहीं होती। या अगर कभी परेड वग़ैरा के मौक़े पर कुछ कहने-सुनने का मौक़ा भी मिलता है, तो नाइब जेलर की ग़ज़ब-आलूद निगाह के असर से उज़्र करने वाले के होश-ओ-हवास इब्तिदा ही में ग़ायब हो जाते हैं। इस पर भी अगर किसी ने जी मज़्बूत कर के कुछ अर्ज़ किया तो सुपरिंटेंडेंट साहिब बहादुर उस का मतलब अंग्रेज़ी में नाइब जेलर साहिब से दरियाफ़्त करते हैं तो उस क़ैदी की शिकायत को अपनी तशरीहों और तौजीहों के साथ मिला कर इस शक्ल में पेश करता है कि अक्सर उस ग़रीब को लेने के देने पड़ जाते हैं, मसलन इलाहाबाद के सुब्हान ने उज़्र किया कि मेरे हाथ का गट्टा उतरा हुआ है, इस लिए मुझ को आसान काम दिया जाए – नाइब जेलर ने ब-हैसियत-ए-तर्जुमान इस बयान पर अपनी जानिब से इतना और बढ़ा दिया कि मेरे ख़याल में ये शख़्स बहाना करता है। नतीजा ये हुआ कि चक्की-ख़ाने से उस की मशक़्क़त तो तब्दील हुई नहीं; अलबत्ता एक माह के लिए बेड़ियाँ उस के पैरों में डाल दी गईं।

चपरी ज़िला इलाहाबाद के ख़लील की एक उंगली कटिंग मशीन में किसी तरह से कट गई, उस की निस्बत भी नाइब जेलर ने ये बात जड़ दी कि उस ने काम से जान बचाने के लिए अपना हाथ ख़ुद ज़ख़्मी कर लिया है। नतीजा ये हुआ कि बे-मीआदी बेड़ियों के इलावा तीन महीने की चक्की उनके नाम लिख दी गई। बेचारे एक हाथ से चक्की पीसते थे और नाइब जेलर की जान को रोते थे। तुर्फ़ा-तर ये कि कोई शख़्स बतौर ख़ुद अपना हाल सुपरिंटेंडेंट से अंग्रेज़ी में नहीं अर्ज़ कर सकता, क्योंकि अंग्रेज़ से अंग्रेज़ी में गुफ़्तगू करना गुस्ताख़ी पर महमूल किया जाता है।

मैंने एक-बार ब-हालत-ए-ना-वाक़िफ़िय्यत नाइब जेलर से कुछ बात अंग्रेज़ी में करना चाही थी कि एक हिन्दुस्तानी वार्डर उसी के इशारे से मुझ पर हम्ला-आवर हुआ। नाचार ख़ामोशी इख़्तियार की, शिकायत करने वाले की परेशानियों का ख़ात्मा यहीं पर नहीं हो जाता, बल्कि उज़्र करने के बाद नाइब जेलर या वार्डर हमेशा के लिए उस का दुश्मन हो जाता है और इस का नाम शूरा-पुश्तों की फ़ेहरिस्त में दर्ज कर लिया जाता है।

इंस्पेक्टर-जनरल का मुआइना

साल में दो बार इन्सपैक्टर जनरल साहब भी जेल-ख़ानों का मुआइना फ़रमाते हैं। उनकी फ़र्याद-रसी और इंसाफ-पसंदी का अफ़्साना और भी ज़ियादा अजीब-ओ-ग़रीब है। जेल में आपकी आमद का हंगामा क़यामत से कम नहीं होता। महीना डेढ़ महीना पहले से आपके मुलाहिज़ा के लिए क़ैदियों को 'जेल की क़वाइद' सिखाई जाती है। सलामी की परेड, नहाने की परेड, बैरक बंदी की परेड, खाने की पेड, पाख़ाने की परेड, मुतअद्दिद परेडों की मश्क़ ना-वाक़िफ़ क़ैदियों को पागल बना देती है, दिन-भर काम करने के बाद फिर मग़रिब तक इस क़वाइद की मुसीबत से नाक में दम आ जाता है।

क़वाइद के दौरान में अगर कभी नाइब जेलर साहिब तशरीफ़ ले आते, तो गोया एक और बला नाज़िल हुई। हंटर आपके हाथ में होता है और बे-रहमी आपके दिल में। ज़रा कभी किसी से कोई ग़लती हुई कि आपने बिला-तक्लीफ़ एक हंटर रसीद किया। इन्सपैक्टर जनरल के आने से एक रोज़ क़ब्ल आप वार्डरों के ज़रीए से हर बैरक में मुनादी करा देते हैं कि जिस किसी को कुछ उज़्र करना हो, वो पहले हम से बयान करे। जिस का मतलब ये होता है कि अगर किसी ने इन्सपैक्टर जनरल से किसी क़िस्म की कोई शिकायत की तो उस के लिए अच्छा न होगा। क़ैदी भी उमूमन जेल-ख़ाने की राह-ओ-रस्म से वाक़िफ़ होने के बाद शिकायत कर के ख़्वाह-मख़ाह मुब्तिला-ए-मुसीबत होने से परहेज़ करते हैं। और इस तरह पर जंडियल साहिब (इंन्सपेक्टर जनरल) फ़र्ज़ अदा करने के तौर पर ब-कमाल-ए-सैर-गामी सारे जेल का चक्कर लगा जाते हैं और कोई चूँ तक नहीं करता। दूसरे दिन रजिस्टर-ए-मुआइना में आपको ये इबारत लिखी हुई नज़र आएगी:

'सब क़ैदी ख़ुश हैं , किसी को कुछ शिकायत नहीं, इंतिज़ाम बहुत अच्छा है।' लेकिन सवाल ये है कि अगर कोई शख़्स अज़-राह बेबाकी नाइब जेलर और सुपरिटेंडेंट जेल की ख़फ़गी से बे-परवाह हो कर खाने की ख़राबी, वार्डर की सख़्ती और हुक्काम-ए-जेल की बे-रहमी की दास्तान जंडियल से कह भी सुनाए तो क्या हुआ:

ईं ख़ाना हमा-आफ़ताब अस्त

महकमा-ए-जेल के एक अदना मुलाज़िम से लेकर इन्सपैक्टर जनरल तक सब के सब बे-रहमी और बे-पर्वाई के यकसाँ रंग में रंगे होते होते हैं। इन्सपैक्टर जनरल की अदीम-उल-फ़ुरसती अव्वल तो किसी फ़र्यादी की फ़र्याद बा-इत्मीनान सुनने की इजाज़त ही नहीं देती, लेकिन इत्तिफ़ाक़ी से अगर आप मुतवज्जेह भी होते हैं, तो इस तवज्जोह का नतीजा उमूमन सिवा इस के और कुछ नहीं होता कि उज़्र करने वाला ही कोठड़ी में बंद कर दिया जाता है। दूसरे दिन जंडियल साहिब तो चल देते हैं, लेकिन उस ग़रीब की शामत आ जाती है, क्योंकि जंडियल से बिला-इत्तिला-ए-हुक्काम उज़्र करने की उस से सख़्त बाज़-पुर्स होती है और इस तमाम झगड़े के बाद ज़ियादा से

ज़ियादा ये होता है कि वो क़ैदी किसी दूसरी जेल को रवाना कर दिया जाता है जहाँ जाते ही यक़ीनी तौर पर उस का नाम शूरा-पुश्तों की फ़ेहरिस्त में दर्ज कर लिया जाता है। (जेल वालों की बे-दर्दी का ये अफ़्साना ख़ाली-अज़-मुबालग़ा है। सुबूत के लिए सूबाजात-ए-मुत्तहदा की कौंसल में उर्दू-ए-मुअल्ला के मुशाहिदात-ए-ज़िंदाँ की निस्बत ऑनरेबल बाबू गंगा परशाद साहब वर्मा का सवाल और हुकूमत की जानिब से उस का मोहमल जवाब मुलाहिज़ा-तलब है। बाबू साहब ने दरियाफ़्त किया था कि आया गर्वनमैंट की नज़र से उर्दू-ए-मुअल्ला के ये मज़ामीन गुज़रे हैं और आया उनकी बाबत कुछ तहक़ीक़ात की जाएगी। इन्सपैक्टर जनरल साहिब ने बा-कमाल-ए-तरद्दुद-ओ-बे-पर्वाई जवाब दिया कि गर्वनमैंट के नज़्दीक इन मज़ामीन की कोई वक़्अत नहीं है और उनके मुतअल्लिक़ न कोई तहक़ीक़ात की गई है न आइन्दा की जाएगी। ये जवाब जिन पुर-ग़ुरूर अल्फ़ाज़ और जिस ग़ज़ब-नाक लहजे में दिया गया है, उस पर नज़र कर के अर्बाब-ए-इन्साफ़ ख़याल कर सकते हैं कि अगर ख़ुदा-न-ख़्वास्ता ऐडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला यही शिकायतें कर्नल साहब बहादुर से एक क़ैदी की हैसियत से करता तो इस का क्या नतीजा होता। ख़ुश-क़िस्मती से हसरत इस वक़्त आज़ाद और उनके कब्ज़ा-ए-इख़्तियार से बाहर है, वर्ना क़ैदी पा कर आप ख़ुदा जाने क्या ग़ज़ब ढाते, ख़ैर आप हाकिम हैं और हम लोग महकूम, जो चाहे कीजिए, लेकिन इतना ख़याल रहे कि जब्र-ओ-ख़ुद-सरी के साथ ग़रूर-ओ-तमरद ज़वाल की यक़ीनी अलामतों में से है। सयअलमुल्लज़ीना ज़लमू अय्य मुन्क़लबिं यन्क़लिबून [जिन लोगों ने ज़ुल्म किया, उन्हें जल्द ही मालूम हो जाएगा कि वे किस जगह पलटते हैं।]

इन्सपैक्टर के दौरे को ज़िंदानी इस्तिलाह में जंडेली कहते हैं, क़ैदियों को जंडेली से ज़हमत और परेशानी के सिवा और कोई फ़ायदा नहीं पहुँचता। यही वज्ह है कि वो लोग इस से बला-ए-ना=गहानी की तरह लरज़ाँ-ओ-तरसाँ रहते हैं। अलबत्ता दौरान-ए-मुआइना दो एक रोज़ खाना निसबतन ज़रूर अच्छा मिलता है। यानी मामूल के ख़िलाफ़ रोटियों का आटा, मिट्टी और चूने की आमेज़िश से पाक होता है और शाम को चौलाई के साग या डंठलों के बजाए तरकारी के भी दो-चार क़त्लों की सूरत नज़र आती है।

कुतुब-ख़ाने की बर्बादी

मजिस्ट्रेट अलीगढ़ ने मेरे मुक़द्दमे में सज़ा-दही के सारे इख़्तियार ख़त्म कर दिए थे, यानी दो साल सख़्त और पाँच सौ रुपये जुर्माना। ज़ियादा का अगर उन्हें इख़्तियार होता तो शायद उस से भी दरेग़ ना करते, हाईकोर्ट से क़ैद की मीआद घट कर दो साल से एक साल रह गई लेकिन जुर्माना ब-दस्तूर क़ायम रहा, जिसके इवज़ में छः महीने की क़ैद-ए-सख़त को मिला के गोया फ़िल-जुम्ला डेढ़ महीने की सज़ा बाक़ी रही।

हुक्काम-ए-जेल मुतमइन थे कि कम-अज़-कम डेढ़ बरस तक तो ये शख़्स हमारे क़ाबू में है, जितनी सख़्ती इस के साथ चाहें कर लें; चुनाँचे इब्तिदा की क़ैद से लेकर दस माह तक बराबर चक्की पिसवाना ग़ालिबन इसी इत्मीनान की बिना पर था। अगर ये मीआद क़ायम रहती तो डेढ़ साल बराबर मुझको चक्की पीसना पड़ती, लेकिन दौरान-ए-क़ैद में वालिद मरहूम के इंतिक़ाल की वज्ह से भाई साहब को मजबूरन किसी न किसी सूरत से ज़ेर जुर्माना अदा करना पड़ा क्योंकि अगर ऐसा न किया जाता तो जो क़लील जाइदाद विरासतन मुझ को पहुँची थी, वो मजिस्ट्रेट अलीगढ़ के हुक्म से नीलाम कर दी जाती और सरकारी नीलाम जिस बे-दर्दी और बे-पर्वाई के साथ किया जाता है, उस का नमूना इसी मुक़द्दमे में लोगों के पेश-ए-नज़र हो चुका था कि ज़र-ए-जुर्माना के इवज़ में 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का कुल कुतुब-ख़ाना जिस की मज्मूई क़ीमत तीन चार हज़ार रुपये से किसी तरह कम न थी, सिर्फ़ साठ रुपये में बर्बाद कर दिया गया। अहल-ए-अर्फ़ा के मुतअल्लिक़ ये क़ानून है कि हुक्म-ए-नीलाम से उन के पेशे के औज़ार मुस्तसने समझे जाते हैं , फिर समझ में नहीं आता कि अख़बार-नवीसों और अदीबों और शाइरों के साथ इस दर्जा सख़्ती क्यों रवा रखी जाती है कि उनकी नायाब और क़ीमती किताबें ना-क़द्र-दानों के हाथ कौड़ियों के मूल फ़रोख़्त कर दी जाती हैं? जुर्माना उसी क़दर होना चाहिए जिस क़दर मुल्ज़िम से अदा हो सके। अलीगढ़ में हर शख़्स आगाह था और इसलिए ग़ालिबन मजिस्ट्रेट अलीगढ़ भी ना-वाकिफ़ न होंगे कि एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला एक फ़क़ीराना ज़िंदगी बसर करता था, ऐसी हालत में उस पर पाँच सौ रुपये जुर्माना करना उसूल-ए-इन्साफ़-ओ-इन्सानियत के कहाँ तक मुवाफ़िक़ या मुख़ालिफ़ है, इस का फ़ैसला हम नाज़िरीन के ज़िम्मे छोड़ते हैं।

इस जुर्माने की ब-दौलत कुतुब-ख़ाना-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला की जो हालत हुई, उस का बयान निहायत दर्दनाक है, जिन किताबों को राक़िम-उल-हुरूफ़ ने मालूम नहीं किन कोशिशों और दिक़्क़तों से बहम पहुँचाया था, जिन किताबों में बहुत से ऐसे नायाब और क़लमी नुस्ख़े दवावीन-ए-शुअरा वग़ैरा के थे, जिन की नक़्ल भी किसी दूसरी जगह नहीं मिल सकती। इन सबको पुलिस के जाहिल जवान ठेलों में भर-भर के इस तरह से ले गए, जैसे कि लोग लकड़ी या भस ले जाते हैं। इन किताबों की फ़ेहरिस्त बनाना तो बहुत दूर था, किसी ने उनको शुमार तक न किया। इस के बाद इन किताबों पर क्या गुज़री, उस का ज़िक्र करते हमारा दिल दुखता है , इसलिए इस से क़त्अ-ए-नज़र ही मुनासिब है और इस जब्र-ओ-ज़ुल्म का इन्साफ़ ख़ुदा के हाथ है।

सिलसिला-ए-कलाम कहाँ से कहाँ जा पहुँचा, अस्ल ज़िक्र इस बात का था कि ज़ेर जुर्माने के दफ़अ्तन अदा हो जाने से क़ैद की मीआद सिर्फ़ एक साल रह गई और पूरी मशक़्क़त करने वाले क़ैदियों कोई फ़ी-माह तीन रोज़ के हिसाब से हुकूमत की जानिब से जो रिहाई मिलती है, उसे भी शामिल कर लेने के बाद मेरी रिहाई में सिर्फ़ एक माह बल्कि कुछ इस से भी कम बाक़ी रह गया।

अब तो मुंतज़िमीन-ए-जेल के कान खड़े हुए और उन्हें मेरे साथ अपने बर्ताव की सख़्ती का भी कुछ-कुछ एहसास होने लगा; चुनाँचे एक रोज़ ख़िलाफ़-ए-मामूल शाम के वक़्त बैरक बंद करने के मौक़े पर नाइब जेलर ने मुझ से दरियाफ़्त किया कि तुमको कोई दूसरी मशक़्क़त दी जाएगी, उसे पसंद करोगे या नहीं। लोगों को जनाब-ए-मौसूफ़ के इस ग़ैर-मामूली इज़्हार-ए-लुत्फ़-ओ-करम पर कमाल तअज्जुब था, लेकिन राक़िम-उल-हुरुफ़ को उनकी नीयत का हाल मालूम हो गया था कि चंद रोज़ के लिए किसी कारख़ाने में भेजने से इस के सिवा और कोई ग़रज़ नहीं है कि मुझ से तमाम मीआद चक्की पिसवाने के इल्ज़ाम से बचने की सूरत और क़सम खाने की गुंजाइश निकल आए। पस मैंने तब्दीली-ए-मशक़्क़त के इस अजीब तोहफ़े को क़ुबूल करने से यक-क़लम इन्कार कर दिया।

इन्सपैक्टर जनरल जेल-ख़ानाजात ने मेरे मुतअल्लिक़ आनरेल बाबू गंगा परशाद साहब वर्मा के एक सवाल का जवाब ऐसे मुबहम और पुर-फ़रेब अलफ़ाज़ में दिया है जिस से साफ़ ज़ाहिर होता है कि वो किसी न किसी तरह मैंबरान-ए-कौंसल की ना-वाक़्फ़ियत से फ़ायदा उठा कर मेरे इस इनकार को भी अपने मुफ़ीद-ए-मतलब चाहते हैं कि एक मौक़े पर मुल्ज़िम ने ख़ुद किसी दूसरी मशक़्क़त के क़ुबूल करने से इन्कार किया था। इन्सपैक्टर जनरल का ये मुबहम जुम्ला अपने पुर-फ़रेब मफ़्हूम के ज़रीए से लोगों के दिल में ये ख़याल पैदा कराना चाहता है कि गोया एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला ने चक्की की मशक़्क़त को अज़-ख़ुद दूसरी मशक़्क़तों पर तर्जीह दी, वर्ना हुक्काम-ए-जेल उसे दूसरा काम देने पर आमादा थे, हालाँकि ये ग़लत है।

अस्ल वाक़िआ और इन्कार का सही मौक़ा वो था, जिसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। क्या कर्नल साहब की आफ़िशियल रास्त-बाज़ी हमारे इस बयान की भी कुछ तावील कर सकती है। कर्नल साहिब ने ये भी गुल-फ़िशानी फ़रमाई है कि रोज़ाना एक मन ग़ल्ला पीसने का बयान ग़लत है। आम क़ैदियों की तरह एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला को भी पंद्रह सेर गेहूँ और बीस सर चने पीसने को मिलते थे। नीज़ ये कि सुपरिंटेंडेंट जेल को इख़्तियार है कि जिस क़ैदी को जिस सख़्त मशक़्क़त के लायक़ समझे, उस पर लगाए।

इस मुख़्तसर बयान से कई ग़लत-फ़हमियाँ पैदा होती हैं। मसलन अव्वल तो यही मालूम होता है कि एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला के साथ कोई ख़ास सख़्ती नहीं की गई, बल्कि आम क़ैदियों की तरह चूँकि सुपरिंटेंडेंट साहिब ने उसे चक्की पीसने के लायक़ समझा, इसलिए उस से बराबर चक्की ही पिसवाई गई, हालाँकि ये सरासर ग़लत है, क्योंकि किसी नेक-चलन क़ैदी का पूरी मीआद तो क्या निस्फ़ मीआद तक चक्की पीसना भी ना-मुम्किन है, क्योंकि चौथाई मीआद के गुज़रने पर आम क़ैदी पहरेदार और ज़ियादा से ज़ियादा निस्फ़ मीआद गुज़रने पर बर्क़-अंदाज़ बना दिया जाता है, जिसका काम सिर्फ़ दूसरे क़ैदियों की निगरानी का रह जाता है।

क्या इन्सपैक्टर जनरल साहिब की सदाक़त-शिआरी सूबाजात-ए-मुत्तहिदा की तमाम जेलों में से ऐसे चंद क़ैदियों के नाम भी पेश कर सकती है, जिन से बिला-वज्ह और बिला-क़ुसूर सारी मीआद चक्की पिसवाई गई हो। अगर ऐसा नहीं है तो कर्नल साहब का बयान यक़ीनन ग़लत समझा जाएगा। दूसरे ये कि रोज़ाना एक मन ग़ल्ला पीसने का ज़िक्र कर के गोया एडिटर उर्दू-ए-मुअल्ला ने दरोग़-बयानी से काम लिया है, हालाँकि इस में कुछ भी ग़लत नहीं है। ग़ल्ला तो एक ही मन पीने को मिलता है; अलबत्ता एक चक्की पर दो आदमी पीसते हैं क्योंकि वज़्नी चक्कियाँ एक आदमी से चल भी नहीं सकतीं। इस हिसाब से बेशक ब-क़ायदा-ए-अरिथमैटिक फ़ी-कस 20 सेर ग़ल्ला पड़ता है, लेकिन अज़-रु-ए-तजरबा कुछ ज़ियादा फ़र्क़ महसूस नहीं होता, क्योंकि जितनी देर में एक शख़्स बीस सेर ग़ल्ला पीसता है उतनी देर में दो शख़्स मिलकर 40 सैर नहीं पीस सकते। एक चक्की पर दो क़ैदियों के काम करने की तफ़्सील पिछले सफ़्हात में मौजूद है, जिनके मुताला का गर्वनमैंट को इक़रार है, लेकिन इस इक़रार पर भी एक दरमियानी फ़िक़रे को ले कर हम को ग़लत-बयानी का मुल्ज़िम क़रार दिया उसूल-ए-दयानत के सरासर ख़िलाफ़ है। रहा गेहूँ के पंद्रह सैर और चनों के बीस सेर मिलने का अफ़्साना, इस में ज़र्रा बराबर भी सदाक़त नहीं है।

इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में गेहूँ और चनों में कोई इम्तियाज़ नहीं किया जाता, बल्कि क़ाइदे के ख़िलाफ़ गेहूँ भी फ़ी-कस 20 सेर के हिसाब से एक ही मन पीने को मिलते हैं, जिन का पीसना क़ैदियों के लिए अज़ाब-ए-जान हो जाता है, क्योंकि चनों की नर्मी के मुक़ाबले में गेहूँ की सख़्ती पीसने वालों के छक्के छुड़ा देती है। एक मन गेहूँ में पाव भर सिर्फ़ चोकर बाक़ी रखने का हुक्म है जिसके मानी ये हैं कि पहली और दूसरी मर्तबा आटा छानने से जितना चोकर निकलता है, उसे दोबारा और सह-बारा पीसना पड़ता है और इस तरह पर बिला-मुबालग़ा एक मन की जगह डेढ़ मन के क़रीब पीसना पड़ता है। क्या इन्स्पैक्टर जनरल इन वाक़िआत की भी तरदीद कर सकते हैं? हमारा इरादा इन जुज़्वी मुआमलात को इस क़दर तफ़सील से बयान करने का न था, लेकिन कर्नल के बयान से मजबूर हो कर हमें भी 'दरोग़ गो रा ता न-जाना बायद रसानीद' के मक़ूले पर अमल करना पड़ा।

रिहाई की मीआद

ज़माना-ए-क़ैद के इब्तिदाई अय्याम की सख़्ती ज़र्ब-उल-मसल है कि क़ैदियों के इन चंद दिनों की बेचैनी साल-हा-साल के कर्ब-ओ-इज़्तिराब से भी बढ़ जाया करती है। इब्तिदा में जेल की नई तक्लीफ़ों से साबिक़ा पड़ता है, इसलिए गिरफ़्तारान-ए-मुसीबत को कुछ रोज़ तक ज़िंदान में अज़ाब-ए-दोज़ख़ का नमूना नज़र आया करता है, मगर रफ़्ता-रफ़्ता ब-मिस्दाक़-ए-'बर-सर-ए-औलाद हर-चे आयद बि-गुज़रद' तबीअत इन सब ज़िल्लतों की ख़ूगर हो जाती है और मायूसी क़ैदियों के दिल में एक ऐसा सुकून पैदा कर देती है जिसकी मदद से वो राज़ी-ब-रज़ा-ए-इलाही हो जाते हैं, वर्ना अगर इब्तिदाई बे-क़रारी का आलम ब-दस्तूर क़ायम रहे तो उन ग़रीबों की ज़िंदगी दुशवार हो जाए। दो साल, पाँच साल, सात साल, बल्कि चौदह-चौदह साल तक की दराज़ मीआदें लोग बा-आसानी काट देते हैं , लेकिन आख़िर में जब ये मालूम होता है कि अब हमारी क़ैद का सिर्फ़ एक महीना बाक़ी है, सिर्फ़ पंद्रह दिन बाक़ी हैं, सिर्फ़ तीन दिन बाक़ी हैं, सिर्फ़ एक दिन बाक़ी है। उस वक़्त किसी का सब्र-ओ-सुकून बर-क़रार नहीं रहता। क़वाइद-ए-जेल की रु से क़ैदियों के टिकटों पर रिहाई की तारीख़ कुछ रोज़ पहले मुतअय्यन कर के दर्ज कर दी जाती है, जिसके लिए क़ैदी ख़ास कर सुपरिंटेंडेंट के रु-ब-रु तलब किया जाता है। इस मौक़े पर सुपरिंटेंडेंट, साहिब अज़ राह-ए-करम कभी-कभी क़ैदियों को दो-चार दिन की रिहाई अपनी तरफ़ से मर्हमत फ़रमाया करते हैं।

राक़िम-उल-हुरूफ़ को चूँकि शुरूअ ही से किसी क़िस्म की रिआयत न मिली थी, इसलिए इस मौक़े पर भी दूसरे मामूली क़ैदियों की तरह सुपरिंटेंडेंट साहब के लुत्फ़-ओ-करम की ब-दौलत तारीख़-ए-मुक़र्ररा के क़ब्ल रिहा होने की कोई उम्मीद न थी, इत्तिफ़ाक़ से सुपरिंटेंडेंट साहिब ने ख़िलाफ़-ए-मामूल मुझे तलब किए बग़ैर हिसाब कर के 3 जुलाई 1909 तारीख़-ए-रिहाई मुक़र्रर कर दी, जिस से इस ख़याल की पूरी तस्दीक़ हो गई।

राक़िम-उल-हुरूफ़ को बुज़ुर्गान-ए-दीन की अक़ीदत के साथ जो फ़ितरी उन्स है, उस की ब-दौलत ज़िंदान-ए-फ़िरंग में जैसी कुछ क़ल्बी क़ुव्वत और रुहानी आज़ादी और इत्मीनान मयस्सर रहा और ज़िम्नन जो बातिनी फ़ुयूज़ हासिल हुए, अल्फ़ाज़ के ज़रीए से उनकी हक़ीक़त सही तौर पर नहीं बयान हो सकती और न उन के ज़िक्र का ये महल है, इसलिए उन से क़त्अ-ए-नज़र ही मुनासिब है; अलबत्ता आख़िर-ए-ज़माना-ए-क़ैद का एक वाक़िआ ऐसा है जिसके इज़्हार में कोई हर्ज नहीं मालूम होता है।

रुदौली का उर्स-शरीफ़ माह-ए-जमादी-उस-सानी की दरमियानी तारीख़ों में होता है। 1909 में ये तारीख़ें माह-ए-जुलाई की इब्तिदाई तारीख़ों से मुताबिक़ वाक़े होती थीं।

इत्तिफ़ाक़ से मैंने एक रोज़ सोते वक़्त हिसाब किया तो मालूम हुआ कि मेरी रिहाई का दिन ठीक उसी तारीख़ को मुक़र्रर हुआ है जो उर्स शरीफ़ का आख़िरी रोज़ होगा। मुझको चूँकि हाज़िरी में हज़रत-ए-शैख़-उल-आलम से सआदत-अंदोज़ और फ़ैज़ पज़ीर होने का अक्सर इत्तिफ़ाक़ हो चुका था इसलिए बे-इख़्तियार दिल में ये ख़्वाहिश

पैदा हुई कि अगर रिहाई की तारीख़ दो या एक रोज़ क़ब्ल भी मुक़र्रर होती तो शिरकत-ए-उर्स का मौक़ा मिल सकता था, लेकिन तारीख़-ए-रिहाई के टिकट पर दर्ज हो जाने के बाद दुबारा तब्दील हो सकने का उस वक़्त मेरे दिल में वहम-ओ-गुमान भी न था, फिर भी सुब्ह उठने पर सबसे पहली जो बात मुझको मालूम हुई वो ये थी कि सुपरिटेंडेंट ने मुझे ग़ैर-मामूली तौर पर दफ़्तर की बजाए नई तक्लीफ़ में तलब किया है।
नई तकलीफ़ में पहुँच कर मुंशी साहिब से मालूम हुआ कि साहिब बहादुर मेरे इस्तिक़लाल और नेक-चलनी से बहुत ख़ुश हैं और इसलिए अपने इख़्तियार से ग़ालिबन वक़्त-ए-मुक़र्ररा से कुछ क़ब्ल ही मुझे रिहा कर देंगे। इस मुज़्दा-ए-जाँ-फ़िज़ा के सुनने से मुझ को भी बहुत मुसर्रत होती और यक़ीन हो गया कि शब-ए-गुज़िश्ता की आरज़ू अब ज़रूर पूरी होगी। सुपरिटेंडेंट साहिब ने मुझको देखते ही हुक्म दिया कि हम इन को पंद्रह दिन की रिहाई अपनी जानिब से देते हैं, चुनाँचे इस हुक्म की तामील की गई और मैं तारीख़-ए-मुक़र्ररा से पंद्रह दिन पहले रिहा हो कर शाम तक इलाहाबाद में ठहर कर मकान रवाना हुआ और दस दिन क़याम करने के बाद बा-इत्मीनान-ए-तमाम रुदौली रवाना हुआ।
मुम्किन है कि इस वाक़िए को लोग हसीन इत्तिफ़ाक़ पर महमूल करें, लेकिन राक़िम के नज़्दीक ये सब कुछ हज़रत मख़्दूम अहमद अब्दुल-हक़ के बातिनी तसर्रुफ़ का नतीजा था।

हडसन बाबा

इलाहाबाद सैंटर्ल जेल के सुपरिटेंडेंट मिस्टर हडसन अजीब-ओ-ग़रीब मिज़ाज के शख़्स थे, जिन को कुल क़ैदी हडसन बाबा के नाम से याद करते थे। 'गाहे-बसलामे बि-रंजदद व-गाहे ब-दुश्नामे ख़िल्अत दहंद' के अफ़्साने आपके दरबार पेशी के मुतअल्लिक़ अक्सर क़ैदियों की ज़बानी सुनने में आते थे, सख़्त-गीरी और तुंद-ख़ूई उनकी ज़र्ब-उल-मिस्ल थी, जिस से क़ैदी तो क़ैदी जेल के तमाम आज़ाद मुलाज़िम भी हर वक़्त तर्सां रहते थे, लेकिन एक ख़ास वस्फ़ उनमें ऐसा था, जिस ने उनके जुम्ला उयूब को छुपा दिया था। वो ये कि क़ैदियों को निशानात-ए-रिहाई अता करने में जैसी फ़य्याज़ी उन से ज़ाहिर होती थी, ग़ालिबन किसी दूसरे सुपरिटेंडेंट से न होती होगी, जिस की ब-दौलत, अक्सर सात सात साल के क़ैदी पाँच ही पाँच साल बल्कि इस से भी कम मीआद काट कर रिहा हो गए।

इलाहाबाद जेल की ख़राबियों और अपनी निस्बत हुक्काम-ए-जेल की सख़्तियों के बावजूद मिस्टर हडसन की बाज़ इंतिज़ामी ख़ूबियों की तारीफ़ न करना बईद-अज़-इन्साफ़ होगा। मसलन सफ़ाई और ज़ाहिरी जिस्मानी सेहत का लिहाज़ जैसा इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में होता है। वैसा कैसी दूसरी जगह नहीं होता, जिसका मामूली सुबूत ये है कि इस जेल में क़ैदियों के कपड़े मौसम-ए-सर्मा में भी जूओं से पाक रहते हैं। दर-आँ-हाले-कि आम तौर पर 'ज़िंदाँ' और 'जूँ' लाज़िम-ओ-मल्ज़ूम समझे जाते हैं। मुलाज़िमान जेल की ज़द-ओ-कोब और सख़्ती जो ज़ियादा-तर क़ैदियों से हुसूल-ए-ज़र की ग़रज़ से होती हैं। इस की भी शिकायतें इलाहाबाद जेल में मिस्टर हडसन के ख़ौफ़ से बहुत कम सुनने में आईं और मीआद-ए-क़ैद में तख़्फ़ीफ़ कर देने का हाल हमने पहले ही दर्ज कर दिया है।

क़ैद की तकलीफ़ों में सबसे बड़ी तकलीफ़ उस रूहानी बेचैनी को समझना चाहिए जो इर्तिकाब-ए-जराइम के लाज़िमी नतीजे की सूरत में यक़ीनन हर यक-बारा क़ैदी के आरिज़-ए-हाल होती है। मैं चूँकि बा-ग़ायत-ए-ईज़िदी इस तक्लीफ़ से आज़ाद था, इसलिए ज़ाहिरी सख़्तियों के बर्दाश्त करने में मुझ को कुछ ज़ियादा दिक़्क़त महसूस नहीं हुई और रिहा होने पर ऐसा मालूम हुआ कि गोया एक साल तक मुझे किसी ग़ैर-मुल्क का सफ़र दरपेश था, जहाँ से मैं अब अपने वतन को वापिस आ रहा हूँ।

वतन पहुँच कर जहाँ अपने दोस्तों और अज़ीज़ों से मिलने की ख़्वाहिश थी, वहीं अपने जदीद दोस्तों से जुदा होने का किसी क़दर अफ़्सोस भी ज़रूर था कि उन में से चंद के सिवा बाक़ी सब से फिर कभी मुलाक़ात होने की कोई उम्मीद न थी। मेरा अफ़सोस तो ये ख़ैर रिहाई की ख़ुशी से मग़्लूब हो गया था, लेकिन उन गिरफ़्तारान-ए-बला को मेरी जुदाई निहायत शाक़ थी, जिनमें से बाज़ की आँखें तो मुझ से जुदा होते वक़्त बे-इख़्तियार अश्क-फ़िशानी में मसरुफ़ थीं। अल्लाह-तआला उन सब को जल्द इस मुसीबत से निजात दे।

•

रफ़ीक़ान-ए-ज़िंदाँ

जेल में मुख़्तलिफ़ मक़ामात से आए हुए क़ैदियों के इख़्तिलाफ़ात, आदात, अख़्लाक़, ज़बान-ओ-लहजे की दिलचस्प कैफ़ियत देखने से तअल्लुक़ रखती है, फिर इन में से हर शख़्स अपने साथ अपने अजीब-ओ-ग़रीब वाक़िआत : ज़िंदगी की एक मुख़्तसर सी तारीख़ भी रखता है जो अक्सर-औक़ात मस्नूई कहानियों से भी ज़ियादा दिल-पसंद हुआ करती है।

राक़िम-उल-हुरूफ़ बैरक-बंद होने के बाद से सोने के वक़्त तक अपना वक़्त अक्सर इन्हीं इंसानों के सुनने में बसर करता था।

मरहूम अब्दुल्लाह ग़ाज़ियाबादी अपने 'घी के रोज़गार' की ऐसी-ऐसी हैरत-अंगेज़ हिकायतें बयान करते थे कि सुनने वाले दंग रह जाते थे उन के पास एक देगची और उस के साथ कोई शय इस क़िस्म की थी, जिस के असर से वो ख़रीदते वक़्त पाँच सेर की बजाए बासानी सवा छः सेर तक घी बग़ैर किसी क़िस्म के ज़ाहिरी फ़रेब के ले सकते थे, यानी इस में हाथ की सफ़ाई को मुत्लक़ दख़्ल न था, क्योंकि ख़ुद तो लेते भी न थे बल्कि बेचने वालों ही से तुलवाते थे फिर जब ... ख़ुद फ़रोख़्त करते थे तो छः सेर की जगह पाँच ही सेर इसी तर्कीब से दे देते थे।

ज़ाकिर बर्क़-अंदाज़ ने उन से ब-क़सम इक़रार लिया था कि रिहा होने के बाद घी का रोज़गार हमें भी सिखा देना, मगर अफ़सोस कि दफ़्अतन रिहाई से सिर्फ़ एक माह क़ब्ल उन्होंने दरख़्त पर से गिर कर इंतिक़ाल किया। उन्होंने मेरे साथ जिस इंसानियत और मोहब्बत का बरताव किया, उस की कैफ़ियत पहले बयान कर चुका हूँ। रिहा होने पर मैं ने सब से पहले उन की क़ब्र पर जा कर फ़ातिहा पढ़ना चाहा, मगर अफ़सोस कि क़ब्र का सहीह निशान न मिल सका, अब भी हर साल शब-बरात (?) के मौक़े पर अपने दीगर आज़ा-ओ-अहबा के फ़ातिहे के साथ अब्दुल्लाह मरहूम की फ़ातिहा भी मैं ने अपने ऊपर लाज़िम कर लिया है। अल्लाह-तआला उन की मग़फ़िरत करे।

ज़ैदपुर ज़िला हमीरपुर के मुंशी नंद लाल साबिक़ विलेज पोस्टमास्टर, फ़न्न-ए-ज़राअत से भी ब-ख़ूबी वाक़िफ़ थे। वो अक्सर महकमा-ए-डाक़ की ख़ुफ़िया कार-रवाइयों और फ़न्न-ए-ज़राअत के उसूल पर तवील लेक्चर दिया करते थे। उर्दू मामूली और हिंदी ख़ूब जानते थे, और राक़िम-उल-हुरूफ़ ने हिंदी पढ़ने-लिखने की मश्क़ उन्हीं से की।

मलूकपुर ज़िला बारा-बंकी के गुरचरन कूर्मी पाटनदीन के मशहूर गिरोह से तअल्लुक़ रखते थे, और उन की बहादुरी के क़िस्से अक्सर सुनाया करते थे। ग़रीबों, बेकसों और बेवाओं के साथ पावन दीन के सुलूक की हिकायतें भी दिलचस्पी से ख़ाली न हुआ करती थीं। पाटनदीन जिस किसी से एक-बार मदद का वादा कर लिया करते, फिर उस से किसी हालत में रु-गर्दानी न करते थे।

चौधरी मेहदी हसन साहब रईस ज़िला बाराबंकी का भी हमने अक्सर लोगों को हद से ज़ियादा मद्दाह पाया। चौधरी साहिब के मुक़द्दमे के दिलचस्प हालात नंदा बासी और अब्दुल-करीम मुलाज़िम जनाब-ए-ममदूद की ज़बानी सुनने

में आया करते थे, जिससे साफ़ मालूम होता था कि हुकूमत की जानिब से उन पर ज़रूरत से ज़ियादा सख़्ती की गई। वल्लाहु-आलम।
ज़िला पीलीभीत के मुंशी हिदायतुल्लाह कबूतर-बाज़ी के फ़न में कामिल थे। कबूतरों के तमाम इक़्साम और फिर उन सब के ख़ुसूसियात और हालात के बयान से वो कभी न थकते थे। मेरी ग़ज़लों को वो बड़े शौक़ से लिख कर याद कर लिया करते थे।
ज़िला इलाहाबाद के पंडित जगतधारी चत्राल की मुहिम में शरीक हो चुके थे, जिसके तमाम मुफ़स्सिल हालात से वो ब-ख़ूबी आगाह थे। अक़्वाम-ए-सरहद के अफ़आल-ओ-वादात और मारका-ए-चित्राल के वाक़िआत का ज़िक्र वो निहायत होश के साथ किया करते थे।
ज़िला झांसी का सनवान खंगार मुहिम-ए-तिब्बत में शरीक रहा था और अपने फ़ौज में भर्ती होने के वक़्त से ले कर मुहिम-ए-तिब्बत के बाद घर वापिस आने तक के कल हालात थोड़े-थोड़े रोज़ सुनाया करता था। मुहिम-ए-तिब्बत के दौरान में सरकारी रिपोर्टों से तो यही ज़ाहिर होता था कि अंग्रेज़ों का नुक़्सान बहुत क़लील हुआ, लेकिन सनवान के क़ौल के मुताबिक़ तिब्बतियों की तैयार-कर्दा बर्फ़-पोश ख़ंदक़ों में गोरों की सफ़ें की सफ़ें ऐसी गिर कर ग़ायब हो जाती थीं कि फिर उन का पता न लगता था। अहल-ए-तिब्बत के रस्म-ओ-रिवाज और वहाँ की औरतों के दिलचस्प हालात को सनवान ख़ास लुत्फ़ के साथ बयान किया करता था।
अमरोहे के मुंशी ईज़िद बख़्श का हाल हम लिख चुके हैं। चक्की-ख़ाने की बर्क़-अंदाज़ी से पहले ये दर्ज़ी-ख़ाने में थे, जहां के सारे पोस्त-कंदा हालात उनकी ज़बानी अक्सर सुनने में आते थे।
मुंशी नवल बिहारी से ग़ल्ला-गोदाम का कच्चा चिट्ठा मालूम हुआ करता था जिस के ज़ाहिर करने की हम में हिम्मत नहीं है।
कैडगंज इलाहाबाद के गणेश अहीर रोज़ाना सुब्ह को भजन वग़ैरा गाया करते थे। राक़िम-उल-हुरूफ़ को उनके अक्सर भजन और हिन्दी गीत ब-ग़ायत-ए-मर्ग़ूब थे। ख़ुसूसन वो जो श्री कृष्ण की तारीफ़ में होते थे, मसलन:

देख री माई तेरे द्वार इक बाला जोगी आया
अंग भबूत गले मर्ग छाला सीस नाग लिपटाया
ले भिच्छा निकलें नंद रानी मोतिन थाल भराया
भिच्छा ले के लौट जा बाबा मेरा बालक देख डराया
ना चाहूँ में दौलत-ए-दुनिया ना चाहूँ में माया
अपने गोपाल का दरस दिखा दे दरस हेतु मैं आया
ले मोहन निकलें नंदरानी आँचल ओट छुपाया
पाँच बेर परिकरमा कर के शृंघी नाद बजाया

जेह दरसन सुर, नर, मुनि तरसें
जोसा गोद खिलाया!

ज़िला जौनपूर के मुंशी मुहम्मद रज़ा सात साल के लिए क़ैद थे। उनकी मज़हबी अक़ीदत और ख़ुलूस को देखकर राक़िम-उल-हुरूफ़ को अक्सर रश्क हुआ करता था। इस मजबूरी की हालत में भी हर माह ग्यारवीं तारीख़ को किसी न किसी तरह से शीरीनी मँगा कर वो हज़रत ग़ौस पाक की नियाज़ ज़रूर दिलाते थे। जेल में बाहर से किसी चीज़ को अंदर ले जाने की सख़्त मुमानिअत है। यहाँ तक कि मालूम हो जाने पर क़ानून के ख़िलाफ़ अमल करने वाले को छः माह तक की सज़ा हो सकती है, लेकिन इन सब मवानिआत के बावजूद मुंशी मुहम्मद रज़ा ने कभी अपने मामूल में फ़र्क़ नहीं आने दिया। वज़ीफ़ा-वज़ाइफ़ का भी उन को बहुत शौक़ था। अक्सर दोपहर को खाना खाने के बाद चक्की-ख़ाने में मेरे पास आते थे और ज़ौक़-ओ-शौक़ की गुफ़्तगू के बाद नमक, हरी मिर्चें, गुड़ या शीरीनी बतौर तोहफ़ा ज़रूर पेश करते थे। नात-ओ-मन्क़बत के अशआर से उन्हें निहायत मुहब्बत थी। अक्सर ग़ज़लें मुझ से सुनकर ज़बानी याद कर ली थीं, जिनको रात के वक़्त बाद-ए-नमाज़-ए-तहज्जुद पढ़ा करते थे। हुस्न-ए-इत्तिफ़ाक़ कि मेरे रिहा होने से दस ही पंद्रह दिन क़ब्ल हमारी बैरक का एक बर्क़-अंदाज़ कम हो गया, जिस की जगह मुंशी मुहम्मद रज़ा साहिब आए। इस तब्दीली पर हम दोनों बहुत ख़ुश हुए। सुब्ह-ए-सादिक़ के वक़्त वो मुझे बेदार कर दिया करते थे और नमाज़-ए-फ़ज्र हम दोनों मिलकर बा-कमाल-ए-शादमानी अदा किया करते थे। जब वो ज़माना याद आ जाता है तो तबीयत बेचैन हो जाती है कि नमाज़-ए-सुब्ह में सुरूर-ए-क़ल्ब की वो कैफ़ियत क्योंकर हासिल हो। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं ने जनाब-ए-रिसालत-मआब की शान में कोई शेर पढ़ा हो और उनकी आँखें पुर-नम न हो गई हों:

वसल्लु-आलिही नूर-ए-कज़-ओ-शुद नूर-हा पैदा
ज़मीं-अज़-हुब्ब-ए-ऊ साकिन फ़लक दर इश्क़-ए-ऊ पैदा
[मौलाना जामी]

काकपी के मुंशी अब्दुल-हमीद अफ़्साना-गोई के फ़न में कामिल थे। चार पाँच महीने तक उनका साथ रहा। रोज़ कोई न कोई नया क़िस्सा ज़रूर कहते थे। इस पर भी उनकी कहानियों का सरमाया ख़त्म न हुआ।
शाहजहाँपूर के चन्ना उस्ताद बग्घी हाँकने का काम जानते थे। जेल के कामों में मूँज-फ़र्श उनसे बेहतर कोई न बना सकता था। अक्सर उनको गुड़ इनआम मिला करता था। उस में से ब-कमाल-ए-फ़राख़-हौस्लगी उस्ताद मेरा हिस्सा अलैहिदा निकाल रखते थे और काम से वापिस आकर नज़्र किया करते थे। स्वामी शिवानंद भी इसी मूँज-फ़र्श के कारख़ाने में बान बटा करते थे। इसलिए उनसे जो कुछ पयाम-ओ-सलाम हुआ करता था, वो उस्ताद ही के ज़रीए से होता था।

ज़िला फ़ैज़ाबाद के बाबा सरजू दास हिंदी के आलिम और संस्कृत से भी वाक़िफ़, अपने किसी चेले के फ़रेब की वज्ह से चार साल के लिए क़ैद थे। उन्होंने भी जेल में अपने फ़क़ीरी मामूलात में फ़र्क़ नहीं आने दिया। रोज़ाना भजन और साधना वग़ैरा के इलावा शाम को गणेश वग़ैरा चंद लोगों को रामायण का सबक़ दिया करते थे। मैं भी अक्सर उनके दर्स में शरीक हुआ करता था। सफ़ाई का बाबा साहब को बहुत ख़याल था; चुनाँचे रोज़ उन के चेले उनके ढोले के इर्द-गिर्द दूर तक लीप-पोत कर साफ़ कर रखते थे। उनके वास्ते दो ज़ाइद ख़ूराकें भी मुक़र्रर थीं। राक़िम-उल-हुरूफ़ के हाल पर बाबा-जी बहुत मेहरबान थे। यहाँ तक कि ख़ास अपने चबूतरे के बराबर वाले चबूतरे पर मुझे रहने की इजाज़त दी थी और मेरे मुसलमान होने का मुतलक़ ख़याल न किया था, सुब्ह-ए-सादिक़ से बहुत क़ब्ल उठ कर वो भी अपने वज़ीफ़े में मसरूफ़ हो जाते थे।

झांसी की तरफ़ के पंडित सत्याराम मिस्टर तिलक के मोतक़िद थे, इसलिए मेरे भी बड़े मद्दाह थे। उनका काम अंग्रेज़ी दफ़्तर में था, जहाँ से अक्सर मुझको पॉलिटिक ख़बरें उन्हीं के ज़रीए से मिला करती थीं। मस्लन बंगाल से नौ मुहिब्बान-ए-वतन की जिला वतनी का मुजमल हाल अव्वल-अव्वल उन्हीं से मालूम हुआ।

ज़िला इलाहाबाद के बिहारी बर्क़-अंदाज़ को अंग्रेज़ी पढ़ने का शौक़ था। रोज़ शाम को वो मुझसे सबक़ लिया करते थे। लोहार-ख़ाने में उनकी मशक़्क़त थी, जहाँ से रोज़ थोड़ी सी प्याज़ और नमक मिर्च मेरे लिए लाना उन्होंने अपने ऊपर लाज़िम कर लिया था।

कोड़ा, जहानाबाद के एक और क़ैदी बिहारी नाम ने भी, अक्सर नाजुक मौक़ों पर मेरी बहुत मदद की, मसलन जिस रोज़ नाइब जेलर ने मुंशी अब्दुल-हक़ साहिब बर्क़-अंदाज़-ए-चक्की-ख़ाना के साथ सारे चक्की-ख़ाने की भी तलाशी ली है। उस वक़्त उनका सारा शुब्ह मेरी जानिब था कि यही कुछ न कुछ लिखा करता है। इत्तिफ़ाक़ से एक ग़ज़ल का मुसव्विदा मेरी टोपी में था और मैं परेशान था कि क्या करूँ। बिहारी ने मुझसे फ़ौरन पूछा कि आपके पास कोई काग़ज़ तो नहीं है, अगर हो तो मुझको दे दीजिए कि मैं उसे छिपा लूँगा और अगर मेरे पास निकल भी आया तो मैं आपके इवज़ सज़ा बर्दाश्त करने पर राज़ी हूँ, ग़रज़-कि वो पुर्ज़ा उसने लेकर मालूम नहीं कहाँ ग़ायब किया कि बरहना तलाशी लिए जाने पर भी कहीं दस्तयाब नहीं हुआ, लेकिन नाइब जेलर के जाने के बाद फिर कहीं से निकाल कर मुझको वापिस कर दिया।

ज़िला बिजनौर के मुंशी शाम सिंह, आर्य समाज के एक पुर-जोश मैंबर थे। मिज़ाज उनका निहायत गर्म था; चुनाँचे इसी गर्म-मिज़ाजी की बदौलत अलीगढ़ डेरी फ़ार्म से उन पर मुक़द्दमा चला था। मुझसे अलीगढ़ी होने की बिना पर वो पुरानी तक्लीफ़ में ख़ासकर मिलने आए और फिर अपनी रिहाई के वक़्त तक हर किस्म की मदद करते थे। मुंशी राम सरूप और स्वामी शिवानंद के साथ भी उन्होंने ऐसा ही कुछ सुलूक किया।

चीलर बर्क़-अंदाज़ क़ौम का पासी इलाहाबाद का बाशिंदा था, और ज़ाकिर के जाने के बाद आख़िर तक हमारी बैरक का बर्क़-अंदाज़ रहा,। जैसा शरीफ़ाना सुलूक चीलर ने मेरे साथ किया, उस पर नज़र कर के अक्सर में ख़याल करता था कि तीनत की नेकी और बदी को ज़ात-पात के क़ुयूद से कोई तअल्लुक़ नहीं है। तालीम का शौक़ भी जैसा मैंने चीलर में देखा, वैसा किसी दूसर शख़्स में नहीं देखा। यादश-बख़ैर, मौलवी मुहम्मद इस्माईल साहब मेरठी की

रीडरों को पढ़-पढ़ कर उसने उर्दू में अच्छी ख़ासी महारत पैदा कर ली थी, अक्सर आमोख़्ता मुझको सुनाया करता था और फ़ारसी=अरबी अल्फ़ाज़ के मानी दरियाफ़्त किया करता था।

ग़रज़-कि एक साल के अर्सा में हज़ारों ऐसे वाक़िआत पेश आए और ऐसे सैंकड़ों लोगों से मुलाक़ात हुई जिनका मुख़्तसर हाल लिखना भी दिलचस्पी से ख़ाली न होता, लेकिन सिलसिला-ए-कलाम की ग़ैर-मामूली तवालत पर नज़र कर के हम इस दास्तान को यहीं पर ख़त्म किए देते हैं।

स्वामी शिवानंद

सेडीशन के मुक़द्दमात और तालीम-याफ़्ता अख़बार-नवीसों के मुब्तिला-ए-मुसीबत होने के वाक़िआत गुज़िश्ता दो साल के अर्से में इस क़दर कसरत से पेश आए कि लोगों ने बिल-उमूम उनकी जानिब ज़ियादा तवज्जोह करना ही तर्क कर दिया।

हुब्ब-ए-वतन के जुर्म में सज़ा-याफ़्ता नौजवान आज फ़िरंगी क़ैद-ख़ानों में इस तक्लीफ़ और कस्म-पुर्सी की हालत में अपनी ज़िंदगी के दिन पूरे कर रहे हैं कि उनके आज़ा-ओ-अक़रिबा के सिवा और किसी शख़्स को कभी उनकी याद तक न आती होगी। जिस तरह मौत के थोड़े ही दिनों बाद मरने वालों की याद दिलों से फ़रामोश हो जाती है, उसी तरह इन गिरफ़्तारान-ए-बला को भी लोगों ने गोया मुर्दा समझ लिया है।

हालाँकि उनमें से बाज़ मर्दान-ए-ख़ुदा इस दर्जे के लोग हैं कि सिफ़ात-ए-इंसानी उनकी ज़ात-ए-पाक के साथ निस्बत रखने पर यक़ीनन फ़ख़्र करते होंगे। वतन-परस्ती, हुर्रियत-पसंदी, आज़ाद-ख़याली, बुलंद-हौसलगी, बे-तअस्सुबी, ख़ुलूस और ख़ुद-आगाही — इन जुम्ला सिफ़ात का मज्मूआ अगर किसी एक शख़्स की ज़ात में यक़ीनी तौर पर बा-आसानी मिल सकता है, तो वो स्वामी शिवानंद की ज़ात है। जिनकी निस्बत क़ैद हो जाने के बजाए ये कहना ज़ियादा सही होगा कि वो आज-कल बनारस की सेंट्रल जेल में मोतकिफ़ हैं।

राक़िम-उल-हुरूफ़ को क़ैद-ए-फ़िरंग से इज़्तिरार के तौर पर जितने ज़ाहिरी और बातिनी-ओ-रूहानी फ़वाइद हासिल हुए, उन में स्वामी जी से हुसूल-ए-मुलाक़ात की इज़्ज़त भी एक मुम्ताज़ दर्जा रखती है। हक़ ये है कि ऐसे बर-गज़ीदा लोगों से रब्त-ओ-इर्तिबाद और मुहब्बत-ओ-इत्तिहाद पैदा करने के इवज़ एक साल की क़ैद क्या साल-हा-साल की क़ैद भी कोई बड़ी चीज़ नहीं।

क्योंकि तक्लीफ़-ए-क़ैद तो आरिज़ी होती है और ज़माना-ए-क़ैद के साथ ख़त्म हो जाया करती है, लेकिन ख़ासान-ए-ख़ुदा की मुहब्बत-ओ-मइय्यत से रूह को जो ला-ज़वाल सफ़ाई और बुलंदी हासिल हो जाती है, उस का असर तमाम उम्र यक़ीनन बाक़ी रह जाता है और क्या अजब कि मरने के बाद भी बाक़ी रहे।

स्वामी जी माह दिसंबर सन 1907 में ब-मुक़ाम-ए-अमरावती सेडीशन क़ानून का शिकार हुए थे और सिर्फ़ एक या दो क़ौमी नज़्मों की इशाअत के जुर्म में सात साल उबूर-ए-दरिया-ए-शोर की सज़ा लेकर अमरावती से नागपुर और नागपुर में कुछ रोज़ रहने के बाद इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में तब्दील हो कर उसी शब को पहुँचे जिस की सुब्ह को राक़िम-ए-मज़्मून भी अलीगढ़ से इलाहाबाद पहुँचा। जेल में नए आने वाले क़ैदियों का हर सुब्ह को मुलाहिज़ा हुआ करता है, चुनाँचे इस तक़रीब से पहले ही हम दोनों को यकजाई का मौक़ा हासिल हुआ और हम-ख़याली-ओ-हमरंगी की तासीर ने हमारे दिलों में ख़ुलूस-ओ-यक-जिहती का एक ऐसा जज़्बा मिनटों और घंटों में पैदा कर दिया, जिसके लिए दुनिया-ए-मोहब्बत में साल-हा-साल की मुद्दत भी क़लील शुमार की जाती है।

पहले मुलाहिज़े के बाद दूसरा मुलाहिज़ा मुस्तक़िल जा-ए-क़याम और क़िस्म-ए-मशक़्क़त की तज्वीज़ के लिए दस-बारह रोज़ के बाद होता है, क्योंकि क़ैदियों की ज़्यादती के बाइस नए आने वालों का नंबर इस से क़ब्ल नहीं आ सकता, ये दरमियानी अय्याम हम लोगों ने 'पुरानी तक्लीफ़' के दूसरे इत्तिफ़ाक़ी तौर पर यकजा बसर किए, क्योंकि दो पॉलिटिकल क़ैदियों के एक जगह न रखने की पालिसी पर अगर हुक्काम-ए-ज़िंदाँ पहले ही से कारबन्द होते, जैसा कि दस-बारह दिन ही के बाद हुए तो इस यकजाई की भी नौबत न आती। पुरानी तक्लीफ़ का दूसरा नंबर वो मुक़ाम है जिसकी सलाख़-दार कोठरियों में शूरा-पुश्त और क़वी हैकल क़ैदी रखते जाते हैं। लोग वहाँ जाने से घबराते हैं, लेकिन हमने इस नंबर को पसंद किया क्योंकि आम क़ैदियों की तरह बड़े-बड़े डाकुओं और बद-मआश क़ैदियों के अख़लाक़-ओ-आदात ज़लील नहीं होते और जो शख़्स उन लोगों के दरमियान रहता है, उसे मुलाज़िमान-ए-जेल भी ज़ियादा तंग करने से डरते हैं।
स्वामी शिवानन्द मिस्टर तिलक के बेचते पैरो हैं और एक अर्से से तर्क-ए-दुनिया कर के तरीक़-ए-फ़क्र इख़्तियार कर चुके हैं, चुनाँचे नौइयत-ए-जुर्म के मुक़ाबले में ज़्यादती सज़ा के वुजूह में ग़ालिबन आपके सन्यास को भी बहुत कुछ दख़्ल है। स्वामी जी बिरहमन हैं, लेकिन जब उनको ये मालूम हुआ कि राक़िम को भी मिस्टर तिलक की पैरवी का फ़ख़्र हासिल है, तो उन्होंने मज़हब-ए-इश्क़ के उसूल के मुताबिक़ क़ुयूद-ए-ज़ात-ओ-रिवाज को ख़ैर-बाद कह कर उख़ुव्वत-ओ-मुरव्वत की एक ऐसी मिसाल पेश की जिसकी तक़्लीद हर वतन-परस्त पर फ़र्ज़ है।
जब तक हम दोनों साथ रहे, हमारा खाना-पीना, उठना-बैठना भी यकजा रहा। यहाँ तक कि बा-वुजूद-ए-इख़्तिलाफ़-ए-मज़हब हमारे इस क़ल्बी इत्तिहाद को देखकर लोग हैरत करते थे। स्वामी जी अपनी मादरी ज़बान मराठी के इलावा अंग्रेज़ी, हिन्दी और संस्कृत में भी माक़ूल इस्तिदाद रखते हैं और फ़न-ए-मौसीक़ी में तो उन्हें कामिल कहना बेजा न होगा। शेर-ओ-शायरी से उनके दिल-ओ-दिमाग़ को तबई मुनासिबत थी, चुनाँचे जिस नज़्म पर उन्हीं सज़ा हुई, वो भी ख़ुद उन्हीं की तस्नीफ़ से थी। मिस्टर तिलक की शान में उन्होंने मराठी और हिन्दी की बहुत सी चीज़ें कही हैं, कभी-कभी वो अपने दर्द-अंगेज़ लहजे में इन अशआर को सुनाते थे तो तमाम सुनने वालों की आँखें पुर-नम हो जाती थीं। अब भी जब उस अहद-ए-दिल-फ़रेब की याद आती है तो बे-इख़्तियार दिल से आह निकल जाती है।

अहद-ए-यक-उम्र-ए-फ़राग़त से भी बेहतर गुज़रा
वो जो इक लहज़ा तिरी याद में हम पर गुज़रा (*हसरत*)

बाबू आरबिंदो घोष ने जेल से निकल कर श्री कृष्ण महाराज के दर्शन का जो हाल ज़ाहिर किया है, उसे बाज़ कूर-बातिन महज़ एक फ़र्ज़ी अफ़्साना क़रार देते हैं, लेकिन हम को उनके बयान की सेह्हत में हमें मुत्लक़ शुब्ह नहीं, इसलिए कि हमने ब-ज़ात-ए-ख़ुद इस अजीब-ओ-ग़रीब असर को महसूस किया, जो हरी कृष्ण का नाम आते ही फ़ौरी तौर स्वामी जी के क़ल्ब पर और ब-तौर-ए-अक्स तमाम हाज़िरीन के दिल पर यक़ीनन तारी हो जाता था। इस सर-चश्मा-ए-मुहब्बत की शान में स्वामी जी की नग़्मा-संजी का पर-लुत्फ़ असर अभी तक राक़िम के दिल में मौजूद है और ग़ालिबन मुद्दत-उल-उम्र मौजूद रहेगा।

सॉंवरे बनवारी

मोको आसा तिहारी

रात को सोने से क़ब्ल हम दोनों मिस्टर तिलक के साथ अपनी-अपनी इरादत-मंदियों की कैफ़ियत और अपनी-अपनी पॉलिटिकल ज़िंदगी के दीगर हालात बयान कर कर के अक्सर दिल में सोचा करते थे कि अगर हमारे क़ैद का ज़माना इसी सूरत से बराबर बसर हो तो ऐसी गिरफ़्तारी हज़ार आज़ादियों से बेहतर है, लेकिन अफ़्सोस है कि वो सोहबत बहुत जल्द बरहम हो गई और दस दिन के बाद हम दोनों इस तरह से अलैहिदा-अलैहदा रखे गए कि फिर कभी इलाहाबाद जेल में न मिल सके।

बनारस में भी स्वामी जी का वही रंग-ओ-हाल था। चुनाँचे माह-ए-गुज़िश्ता में जब तक़ाज़ा-ए-मुहब्बत के तहत राक़िम उनसे मिलने के लिए बनारस गया, तो उन्हें ब-दस्तूर राज़ी-ब-रज़ा-ए-इलाही, बादा-ए-मुहब्बत और वतन-परस्ती से सरशार पाया।

क़ैदियों की इस्लाह

मुजरिमों को क़ैद करने से क़ानून का सिर्फ़ यही मंशा नहीं होता कि उनको जिस्मानी या रूहानी अज़ीयत दी जाए, बल्कि एक ग़रज़ ये भी होती है कि आइन्दा के लिए उनके अख़्लाक़-ओ-आदात में नुमायाँ दुरुस्ती ज़हूर-पज़ीर हो और दौरान-ए-क़ैद में वो कोई न कोई हुनर या पेशा सीख कर सोसाइटी के एक कार-आमद मैंबर बन जाएँ।
अगर हुक्काम-ए-ज़िंदाँ इस उसूल को पेश-ए-नज़र रखा करें तो जेल-ख़ानों की बहुत सी ख़राबियाँ ख़ुद-ब-ख़ुद रफ़ा हो जाएँ, मगर अफ़सोस कि हिन्दोस्तान में क़ैद-ख़ानों की मौजूदा हालत उन जब्री कारख़ानों से ज़र्रा बराबर भी बेहतर नहीं, जिनके मालिकों ने अपना सिर्फ़ एक उसूल मुक़र्रर कर लिया हो कि अपने पाबंद-ओ-मज्बूर मज़दूरों (क़ैदियों) से ज़ियादा से ज़ियादा काम लें, लेकिन उन पर कम से कम ख़र्च करें। इस का नतीजा ये होता है कि जी लगा कर बहुत कम क़ैदी काम करते हैं। ख़ूराक और पोशाक के बाब में अगर मौजूदा क़वाइद जेल की पूरी पाबंदी की जाए तो भी क़ैदियों को बहुत कुछ आराम मिल सकता है, मगर हक़ीक़त-ए-हाल ये है कि सज़ा-दही और सख़्ती के जितने क़वाइद हैं, उनकी तो एक-एक हर्फ़ की पाबंदी अक्सर औक़ात ज़रूरत से ज़ियादा की जाती है, लेकिन जो क़ाइदे उनके मुफ़ीद-ए-मतलब हैं उन का किसी को ख़याल तक नहीं आता, मस्लन:

1. क़ैदियों को फ़ी-कस 9 छटाँक रोटी मिलनी चाहिए, लेकिन आम तौर पर 7 या 8 छटाँक से ज़ियादा कभी नहीं मिलती और वो भी ज़्यादती-ए-वज़्न के ख़याल से कच्ची रखी जाती है। नतीजा ये होता है कि नादार लोग चक्की पीसते वक़्त कच्चा ग़ल्ला या आटा खा कर अपना पेट भरते हैं और जिनके पास ख़ुफ़िया तौर पर रुपया पैसा पहुँच सकता है, वो बावर्चियों से ज़ाइद ख़ूराक मुक़र्रर करा लेते हैं, या कच्चा आटा मोल लेते हैं जितना आटा इस तरह फ़रोख़्त किया जाता है या चक्की-ख़ाने में खाया जाता है, उस के बजाय मिट्टी मिला दी जाती है। अब फ़ी-कस एक या डेढ़ छटांक के हिसाब से भर आटा बचता है, वो कहाँ जाता है, इस की हालत ना-गुफ़्ता-बिह है। रोटियों के साथ फ़ी-कस आध पाव दाल दिए जाने का हुक्म है, जिसमें नमक, मिर्च और घी या तेल भी काफ़ी मिक़्दार में पड़ना चाहिए लेकिन दाल कभी एक छटाँक से ज़ियादा नहीं होती और नमक, मिर्च या रोग़न का तो ये हाल होता है कि जिस क़ैदी के हिस्से में इत्तिफ़ाक़न कभी कोई मिर्च आ जाती है, वो अपने को बड़ा ख़ुश-क़िस्मत ख़याल करता है। वर्ना ये सब चीज़ें दफ़्अ-दारों का हक़ समझी जाती हैं। अगर जेलर या वार्डर भी ये तक्लीफ़ निगरानी की और गवारा किया करें, तो ये सब शिकायतें रफ़्अ हो सकती हैं। बशर्तिके इन सब बातों से वो लोग दीदा-ओ-दानिस्ता चश्म-पोशी न करते हों। शाम के वक़्त दाल के बजाए चौलाई का जो साग तरकारी के नाम से क़ैदियों को दिया जाता है, उस में और घास में हमको कभी कोई फ़र्क़ नज़र न आया। कम-अज़-कम उस को ज़रूर मौक़ूफ़ करना और उस के बजाय दाल जारी करना चाहिए।

2. पोशाक के बारे में ये हुक्म है कि हर शश-माही में एक जोड़ा कपड़ा नया हर क़ैदी को दिया जाए, लेकिन इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में इस क़ायदे की मुत्लक़ पाबंदी नहीं की जाती और आम तौर पर क़ैदी चीथड़े लगाए फिरते हैं; अलबत्ता अहल-ए-मक़दिरत ना-जायज़ तौर पर नए कपड़े ख़रीद कर पहनते हैं। कपड़ों में से कुर्ते और टोपी में कोई ऐब नहीं होता। जाँघिया की लंबाई अलबत्ता कम होती है जिसको पहन कर नमाज़ के लिए काफ़ी सत्र-पोशी नहीं हो सकती। कम-अज़-कम नमाज़ी क़ैदियों को अगर फेरे वालों के मानिंद जाँघिया मिला करे तो ये शिकायत बा-आसानी रफ़्अ हो सकती है
3. बाहम लड़ाई झगड़े पर हर जेल में सख़्त सज़ाएँ दी जाती हैं, लेकिन गाली-गलौच की कोई रोक-टोक नहीं है। नतीजा इस का ये है कि फ़ुह्श अल्फ़ाज़ और गालियाँ जेल-ख़ानों में इस क़दर राइज हैं कि आज़ाद लोगों की बद-तरीन सोसाइटी में भी ग़ालिबन इस की मिसाल न मिलेगी। ईसाई क़ैदियों की तरह अगर हिंदू-मुसलमान क़ैदियों की मज़्हबी तालीम का कम-अज़-कम हफ़्ते में एक-बार भी इंतिज़ाम हो सके तो इस क़िस्म के बहुत से अख़्लाक़ी उयूब ज़रूर कम हो जाएँ। फिर मुख़्बिरी करने या चुग़ली खाने पर क़ैदियों को सज़ा की जगह अक्सर जो फ़ायदा पहुँचाया जाता है, उसे तो यक-क़लम मौक़ूफ़ होना चाहिए, क्योंकि इस से उनके अख़्लाक़ पर हद दर्जा ना-गवार असर पड़ता है। ख़िलाफ़-ए-क़ायदा और अक्सर बे-क़ुसूर मार-पीट से भी क़ैदियों में ग़ैर-मामूली बे-हयाई पैदा हो जाती है। इस का सद्द-ए-बाब भी मुम्किन है , बशर्त-कि हुक्काम-ए-जेल क़ैदियों की दुरुस्ती-ए-अख़्लाक़ को ज़र्रा बराबर भी अहम ख़याल करें।
4. बहुत से क़ैदियों को हमने नविश्त-ओ-ख़्वांद का इस क़दर शौक़ीन देखा कि अगर उनको काफ़ी मौक़ा मिलता तो रिहा होने पर ये अच्छे ख़ासे पढ़े-लिखे बन कर निकलते, लेकिन मालूम नहीं किस सबब से किताब तो दर-किनार، काग़ज़ का एक पुर्ज़ा तक रखना जायज़ नहीं समझा जाता। हमारे नज़्दीक अगर हफ़्ते में एक रोज़ तातील के दिन यानी इतवार को कम-अज़-कम मज़हबी किताबें पढ़ने-पढ़ाने की इजाज़त मिल जाया करे तो बहुत ख़ूब हो। इस का इंतिज़ाम भी कुछ दुश्वार नहीं है। हर बैरक में जो तीन या चार क़ैदी बर्क़-अंदाज़ मुक़र्रर किए जाते हैं, उनमें से दो एक ख़्वांदा ज़रूर होते हैं। पस ब-रोज़-ए-तातील शौक़ीन क़ैदियों की तालीम का एहतिमाम उन्हीं के सपुर्द कर देना चाहिए।
5. बाज़ कारख़ानों में क़ैदियों से उनकी ताक़त से ज़ियादा काम लिया जाता है, मस्लन इलाहाबाद सैंटर्ल जेल में क़ैदी तुलू-ए-आफ़्ताब के वक़्त से लेकर अक्सर-औक़ात ग़ुरूब के वक़्त तक मेहनत करते-करते पस्त हो जाते हैं, ऐसा हर्गिज़ न होना चाहिए। हमारे नज़्दीक तो लोहार ख़ाना, बढ़ई ख़ाना नीज़ पार्चा-बाफ़ी और मूँज-फ़र्श वग़ैरा के कारख़ानों में सिर्फ चंद पैसों की ख़ूराक के इवज़ रुपयों का काम करने वाले क़ैदियों के नाम अगर कुछ क़लील उजरत भी जमा करे जो उनको रिहाई के वक़्त बतौर-सर्माया मिल जाया करे तो मुजरिमों का दुबारा सह-बारा क़ैद-ख़ाने जाना यक़ीनन कम हो जाए।

6. पॉलिटिकल क़ैदियों पर आम क़ैदियों से से भी ज़ियादा सख़्ती की जाती है और वो जेल-ख़ाने की तमाम जाइज़ रिआयतों से महरूम रखे जाते हैं। ऐसा होना किसी तरह क़रीन-ए-इंसाफ़ नहीं और कुछ नहीं हो सकता तो इस ग़ैर-मामूली सख़्ती के मुआवज़े में कम-अज़-कम इतनी रिआयत ज़रूर मिलना चाहिए कि औक़ात-ए-फ़ुर्सत में उन्हें कुतुब-बीनी की इजाज़त हो और उनमें से जिसको तस्नीफ़ या तालीफ़ का शौक़ हो, उसे इतवार के रोज़ एक ख़ास बैरक में किसी यूरोपियन वार्डर की निगरानी में क़लम, दवात-ओ-काग़ज़ के इस्तेमाल का भी मौक़ा दिया जाए।

मन आंचे शर्त-ए बलाग़ अस्त बा तू मीगूयम
तू ख़्वाह अज़ सुख़नम पंद-गीर ओ ख़्वाह मलाल

[सादी शीराज़ी]

गोरे और काले की तमीज़

दुनिया के मामूली कारोबार में उमूमन और रेलवे सफ़र में ख़ुसूसन अहल-ए-हिंद को अक्सर इस अम्र का नागवार तजरबा हुआ होगा कि सिर्फ रंग के फ़र्क़ ने उनको और यूरोपियन या यूरेशियन अस्हाब के दरमियान एक ऐसा अजीब-ओ-ग़रीब इम्तियाज़ क़ायम कर दिया जिसकी बिना तअस्सुब या ग़ुरूर के सिवा और किसी जज़्बा पर हो ही नहीं सकती। अफ़सोस है कि रंग के इस बेजा इम्तियाज़ का दायरा इस क़दर वसीअ हो गया है कि अदालत के ऐवान और जेल कोठरियाँ भी इस के हुदूद के अंदर आ गई हैं।

अदालतों में फ़िरंगियों के इद्दिआ-ए-इन्साफ़ के ख़िलाफ़ गोरों के साथ जो रिआयतें मलहूज़ और कालों पर जो जो सख़्तियाँ जायज़ और क़ानूनन जायज़ रखी जाती हैं, उनकी तफ़्सील एक जुदागाना दफ़्तर की मोहताज है। इस मौक़े पर हम उनके बयान से क़त्अ-ए-नज़र कर के सिर्फ़ जेल के हालात पर इसलिए भी इक्तिफ़ा करते हैं कि जेल की कैफ़ियत से लोग बिलकुल ना-आश्ना हैं।

ख़ूराक

कालों के लिए सुब्ह को आध पाव चने बतौर नाश्ता दिए देने जाने का हुक्म है, लेकिन उमूमन क़ैदियों को छटाँक डेढ़ छटाँक से ज़ियादा नहीं मिलते। नाश्ते के बाद काम पर जाना होता है, जहाँ से ग्यारह बजे खाना खाने के लिए कुछ देर की फ़ुर्सत मिलती है। खाने में जवार, बाजरा, माश और गेहूँ के मख़्लूत आटे की कच्ची रोटियाँ होती हैं, जिनमें गेहूँ की मिक़्दार से कुछ ही कम मिट्टी या चूना मिला होता है। जेल की सख़्त मशक़्क़त से मिट्टी तो क्या है, कंकर-पत्थर भी हज़्म हो जाएँ, वर्ना किसी आज़ाद शख़्स का मेदा इस रोटी को क़ुबूल नहीं कर सकता। इन रोटियों को कच्चा रखने की मस्लिहत ये है कि अव्वल तो पकाने के लिए पत्थर के कोयले इस क़दर कम मिलते हैं कि नए दफ़इयों (क़ैदी बावर्ची) को कच्ची रोटी पकाने पर मजबूर होना पड़ता है। दूसरे ये कि कुछ रोटी के भारी होने के सबब से मुक़र्ररा वज़्न की रोटियाँ कम आटे में तैयार हो जाती हैं। बचा हुआ आटा दूसरे लोगों के काम आता है।

पकी हुई रोटी 9 छटाँक मिलने का हुक्म है, लेकिन उमूमन आठ छटाँक बल्कि कभी-कभी सात छटांक से भी कम मिलती है और किसी को चून-ओ-चरा की हिम्मत नहीं होती। राक़िम-उल-हुरूफ़ ने एक-बार वार्डर वग़ैरा मुलाज़िमान-ए-जेल की ख़फ़गी से बे-पर्वा हो कर बतौर-ए-तजरबा रोटियाँ तुलवाईं तो वो छः छटाँक से कुछ ही ज़ियादा निकलीं। मालूम नहीं आटा जो इस तरह बचता है, वो कहाँ जाता है और किस के सर्फ़ में आता है। क्योंकर गोदाम में रोज़ाना मुक़र्ररा वज़्न के आटे का ख़र्च दिखलाया जाता है?

रोटी के साथ खाने के लिए दोपहर को उबली हुई बेदिली अरहर बे-रोग़न-ओ-मिर्च मिलती है और शाम को चौलाई का साग, जिसकी अदना सिफ़त ये है कि फेंक दिए जाने पर कव्वे भी उसे नहीं सूँघते।

तरकारी जो मुख़्तलिफ़ क़िस्म की जेल में होई जाती है, रोज़ाना डालियों में मुलाज़िमान-ए-जेल के लिए भेज दी जाती है या कभी-कभी कुछ मिलती भी है तो वो पकाने वालों के सर्फ़ में आती है। आम क़ैदियों को कभी उस की सूरत भी देखने को नहीं मिलती। बर-ख़िलाफ़ इस के गोरों को नाश्ते के लिए डबल-रोटी, चाय, शकर और खाने के लिए घी, गोश्त, तरकारी, चावल, दूध ग़रज़-कि सब कुछ मिलता है और काफ़ी मिक़्दार में मिलता है।

पोशाक

काले क़ैदियों को एक लंगोट, जाँघिया, एक कुर्ता, एक टाट, एक कम्बल, एक टोपी के सिवा और कुछ नहीं मिलता, जिनमें से टाट, कम्बल साल-हा-साल के लिए और जाँघिया-कुर्ता क़ायदे की रु से छः माह के लिए, लेकिन अज़-रञ-ए-अमल साल भर बल्कि बाज़-औक़ात इस से भी ज़ियादा दिनों के लिए काफ़ी समझा जाता है। अगर इस दरमियान में ये चीज़ें फट जाएँ या ख़राब हो जाएँ तो इस का ख़म्याज़ा भुगतना पड़ता है। यही वज्ह है कि क़ैदी ब-ग़रज़-ए-एहतियात सिर्फ़ सुबह-ओ-शाम को उन्हें इस्तिमाल करते हैं। बाक़ी सारा दिन काम सिर्फ लँगोट बाँध कर किया करते हैं।
अगर किसी के पास इन कपड़ों से ज़ियादा कोई चीज़ पाई जाए तो उसे सख़्त सज़ा दी जाती है। पर ख़िलाफ़ इस के गोरों को बूट के कई जोड़े मा-मौज़ों के मिलते हैं। पहनने के लिए मुतअद्दिद सूट, जिनके धोने के लिए अलैहिदा हिन्दुस्तानी क़ैदी धोबी का काम करते हैं। लेटने के लिए मसहरी, इस पर गद्दा और चादर, ग़रज़-कि आराम की तमाम चीज़ें मुहय्या की जाती हैं

जा-ए-क़याम-ओ-दीगर ज़रूरियात

कालों के लिए बैरकें हैं, जिनमें बराबर मिट्टी के ढोले या चबूतरे बने होते हैं। जाड़ा, गर्मी, बरसात, ग़रज़-कि हर मौसम में उन्हीं पर सोना चाहिए। सख़्त गर्मी के दिनों में भी काग़ज़ वग़ैरा का मस्नूई पंखा रखना ममनूअ है।
रात को पाख़ाने का कोई माक़ूल बंद-ओ-बस्त नहीं होता, जिससे बाज़-औक़ात सख़्त तक्लीफ़ होती है। सुब्ह को जब बैरक का दरवाज़ा खुलता है तो सब क़ैदी एक साथ पाख़ाने जाते हैं, जिसका नतीजा ये होता है कि सीधे क़ैदियों को आख़िर तक मुंतज़िर रहना पड़ता है और कभी-कभी जब घंटी से काम लिया जाता है तो और भी ज़ियादा दिक़्क़त का सामना होता है, क्योंकि घंटी दो या तीन मिनट से ज़ियादा पाख़ाने में रहने की इजाज़त नहीं देती जिसके बाद बिला-तवक़्क़ुफ़ बाहर निकल आना चाहिए, ख़्वाह कुल क़ैदी फ़ारिग़ हुए हों या न हों।
पाख़ाने के बाद हाथ-मुँह धोने का कोई वक़्त नहीं मिलता, बल्कि अक्सर वहाँ से सीधे काम पर भागना पड़ता है। बर-ख़िलाफ़ इस के गोरों के लिए फ़ी-कस एक कमरा अलैहिदा मिलता है जिसमें एक आहनी पलंग गद्दे-दार, एक

मेज़, एक स्टूल, एक लैम्प और हर कमरे के साथ एक ग़ुस्ल-ख़ाना और एक पातख़ाना मौजूद होता है। गुस्ल-ख़ाने में तौलिया, साबुन हर शय मौजूद रहती है।
रात को लैम्प की रोशनी में और दिन को फ़ुर्सत के औक़ात में गोरे क़ैदी किताबें और कभी-कभी अख़बार बिला-तकल्लुफ़ देखते हैं। उनके लिखने को दवात-क़लम हर वक़्त मौजूद रहता है , हालाँकि कालों के लिए किताब देखना तो दरकिनार, अगर उनके पास काग़ज़ के एक पुर्ज़े का भी शुब्ह हो तो क़यामत आ जाए, चुनाँचे ख़ुद राक़िम-उल-हुरूफ़ की एक-बार इसी शुब्ह में यूरोपियन वार्डर के हुक्म से जामा-तलाशी ली गई, अगर्चे कुछ बरामद नहीं हुआ।
सबसे बड़ा तमाशा ये है कि हर यूरोपियन क़ैदी के कमरे पर दो हिन्दुस्तानी क़ैदी रात-भर पंखा क़ुली का काम देते हैं। बारह बजे तक एक और फिर सुब्ह तक दूसरा क़ैदी पंखा खींचा करता है।

फ़ाअ-तबिरू या ऊली अल-अबसार

[क़ुरआन 59:2, सो इबरत हासिल करो, ऐ बसीरत वालो]

फ़राइज़-ए-मज़हबी

गोरों के लिए हर हफ़्ते में एक या दो बार पादरी साहिब आ के वाज़ फ़रमाते हैं और एक जगह इबादत की इजाज़त होती है, लेकिन कालों की मज़हबी ज़रूरियात की जानिब कभी भूल कर भी तवज्जोह नहीं की जाती। आम क़ैदियों की पोशाक में जाँघिया की लंबाई इस क़दर कम होती है कि जिस्म अस्फ़ल तक बिल्कुल खुला रहता है और इस तरह पर नमाज़ के लिए काफ़ी सत्र-पोशी नहीं हो सकती। ये कमी ऐसी है कि सिर्फ़ दो बालिश्त कपड़ा ज़ियादा इस्तिमाल करने से रफ़्अ हो सकती है, लेकिन कोई इस की जानिब तवज्जोह नहीं करता। राक़िम-उल-हुरूफ़ मजबूरा इसी हालत-ए-नी-बरहनगी में नमाज़ पढ़ा करता था।
कालों के लिए मज़हबी वाज़-ओ-तल्क़ीन का इंतिज़ाम तो दर-किनार अख़्लाक़ी जुर्मों के इर्तिकाब पर सज़ा के इवज़ उन्हें उल्टा इनआम मिलता है और बाज़ हालतों में तो हुक्का-ए-जेल एक तरह पर उन्हें एक दूसरे की ग़ीबत, जासूसी, सब्ब-ओ-शत्म, मार-धाड़ और ज़ुल्म-ओ-सख़्ती की तरग़ीब देते हैं, क्योंकि ग़ीबत या जासूसी करने वाले क़ैदी हर तरह की रिआयत के मुस्तहिक़ क़रार दिए जाते हैं और क़ैदी नंबर-दारों में तो ख़ासकर ऐसे ही लोग उनके मंज़ूर-ए-नज़र ठहरते हैं जो अपने साथियों में सबसे ज़ियादा चालाक, पाजी, ज़ालिम और बद-ज़ुबान मशहूर हों।
मुसमानों के तहवार ईद, बक़र-ईद, शब-बरात, मुहतरम में शाज़-ओ-नादिर ही किसी तहवार पर तातील होती है, हालाँकि गोरों के लिए बड़े दिन के अय्याम में जेलर वग़ैरा की तरफ़ से दावत का सामान किया जाता है और उनको हर क़िस्म के मेवे और खाने दिए जाते हैं।

इस के इलावा आम बर्ताव में गोरों को कालों पर हर तरह से फ़ौक़ियत हासिल होती है । काम उन्हें हल्का मिलता है, अपने अज़ीज़ों या दोस्तों से मिलने और ख़त-ओ-किताबत करने में उन्हें ज़ियादा आसानी होती है। हर सह-माही पर सपरिंटेंडंट-ए-जेल कारगुज़ार क़ैदियों को रिहाई के जो दिन अपनी तरफ़ से देता है, उस रिआयत से यही सबसे ज़ियादा मुस्तफ़ीद होते हैं।

मुलाज़िमान-ए-जेल उन्हें किसी तरह दिक़ नहीं कर सकते, बल्कि अक्सर मौक़ों पर दीदा-ओ-दानिस्ता उनकी बे-ज़ाब्तगियों से चश्म-पोशी करते हैं। ग़रज़-कि हर सूरत से उनकी क़ैद का ज़माना इस तरह से गुज़रता है कि बाज़ आवारा-मिज़ाज करानियों को तो हमने ये कहते सुना कि हमको घर से ज़ियादा तो जेल ही में आराम है।

जेल का कलाम

(1)

रंग सोते में चमकता है तरह-दारी का
तुर्फ़ा आलम है तिरे हुस्न की बेदारी का
साया-ए-इशरत-ए-बेहद है ग़म-ए-क़ैद-ए-वफ़ा
मैं शनासा भी नहीं रंज-ए-गिरफ़्तारी का
जौर-ए-पैहम न करे शान-ए-तवज्जोह पैदा
देख बदनाम न हो नाम सितमगारी का
हैं जो ऐ इश्क़ तिरी बे-ख़बरी के बंदे
बस हुआ उन का तो न लें नाम भी हुश्यारी का
कट गया क़ैद में माह-ए-रमज़ाँ भी 'हसरत'
गर्चे सामान सहर का था न इफ़्तारी का

(2)

ग़ज़ब है कि पाबंद-ए-अग़्यार हो कर
मुसलमान रह जाएँ यूँ ख़्वार हो कर
उठे हैं जफ़ा-पेश-गान-ए-मुहब्बत
हमारे मिटाने पे तय्यार हो कर
तक़ाज़ा-ए-ग़ैरत यही है अज़ीज़ो
कि हम भी रहें उन से बेज़ार हो कर
कहीं सुल्ह-ओ-नर्मी से रह जाए देखो
न ये उक़्दा-ए-जंग दुश्वार हो कर
वो हम को समझते हैं अहमक़ जो 'हसरत'
वफ़ा के हैं तालिब दिल-आज़ार हो कर

(3)

इश्क़ की रूह-ए-पाक को तुहफ़ा-ए-ग़म से शाद कर
अपनी जफ़ा को याद कर मेरी वफ़ा को याद कर
जान को महव-ए-ग़म बना दिल को वफ़ा-निहाद कर
बंदा-ए-इश्क़ है तो यूँ क़त्अ-ए-रह-ए-मुराद कर
ग़म्ज़ा-ए-दिल-फ़रेब को और भी जाँ-फ़ज़ा बना
पैकर-ए-नाज़ हुस्न पर रंग-ए-हया ज़ियाद कर
ख़ुर्रमी-ए-दो-रोज़ा को इशरत-ए-जाविदाँ न जान
फ़िक्र-ए-मआश से गुज़र हौसला-ए-मआद कर
आ कि नजात-ए-बंद की दिल से है तुझको आरज़ू
हिम्मत-ए-सर-बुलंद से यास का इंसिदाद कर
क़ौल को ज़ैद-ओ-उमर के के हद से सिवा अहम न जान
रौशनी-ए-ज़मीर में अक़्ल से इज्तिहाद कर
हक़ से ब-उज़्र-ए-मस्लहत वक़्त पर जो करे गुरेज़
उस को न पेशवा समझ, उस पे न एतिमाद कर
ख़िदमत-ए-अहल-ए-शौक़ को न कर क़ुबूल ज़ी-नहार
फ़न्न-ओ-हुनर के ज़ोर से ऐश को ख़ाना-ज़ाद कर
ग़ैर की जद्द-ओ-जहद पर तकिया न कर कि बे-गुनाह
कोशिश-ए-ज़ात-ए-ख़ास पर नाज़ कर एतिमाद पर

(4)

पैमान-ए-वफ़ा न कर फ़रामोश
ऐ 'हसरत'-ए-बेक़रार ख़ामोश
दीवाना-ए-हस्न-ए-पाक-दामाँ
है पर्दा-ए-दिल में इश्क़ रुपोश
उस इश्वा-ए-नाज़नीं के जल्वे
हैं दुश्मन-ए-अक़्ल-ए-मस्लिहत-कोश

पोशीदा सुकून यास में है
इक महशर-ए-इज़्तिराब ख़ामोश
आज़ाद हैं क़ैद में भी 'हसरत'
हम दिल-शुद-गान-ए-ख़ुद-फ़रामोश

(5)

ख़ुद हम को बुलाने लगे दे दे के वो क़स्में
बाक़ी न कोई फ़र्क़ रहा इश्क़-ओ-हवस में
मौक़ा है अजब कश्मकश-ए-लुत्फ़-ओ-हवस का
क़ाबू में हैं वो नाज़ के हम शौक़ के बस में
लाज़िम है यहाँ ग़ल्बा-ए-आईन-ए-सवीयत
दो एक बरस में हो कि दस बीस बरस में
निस्बत है वही आशिक़ी-ओ-हुस्न में बाहम
फ़िल-जुम्ला हुआ करती है जो शोला-ओ-ख़स में
बाद उन के हुई वज्ह-ए-सुकूँ हिज्र में 'हसरत'
बुल्बुल के लिए बाद-ए-बहार आई क़फ़स में

(6)

दिल को तिरी दुज़दीदा नज़र ले के गई है
अब ये नहीं मालूम किधर ले के गई है
इस बज़्म से आज़र वो न आएगी मुहब्बत
आईन-ए-वफ़ा मद्द-ए-नज़र ले के गई है
जब ले के गई है हमें ता-कू-ए-मलामत
मजबूरी-ए-दिल ख़ाक-बसर ले के गई है
पहले ही से मायूस न क्यूँ हूँ कि दुआ को
क़िस्मत मिरी महरूम-ए-असर ले के गई है
मग़मूम न हो ख़ातिर-ए-हसरत कि तलक तक
पैग़ाम-ए-वफ़ा बाद-ए-सहर ले के गई है

(7)

सब्र मुश्किल है ज़ब्त भी दुश्वार
दिल-ए-वहशी है और जुनून-ए-बहार
दिल-ए-मायूस में है नक़्श-ए-उमीद
या मुसाफ़िर कोई ग़रीब-ए-दयार
कश्मकश में है कामरानी-ए-शौक़
मुझ को इबराम है उन्हें इन्कार
ग़ैर-मुम्किन है हम से ताअत-ए-ग़ैर
ऐ जफ़ा-कार, ऐ फ़रेब-आज़ार
रूह आज़ाद है ख़याल आज़ाद
जिस्म-ए-हसरत की क़ैद बेकार

(8)

अह्द-ए-मस्ती के अब कहाँ वो रंग
साग़र-ए-बादा है न कासा-ए-संग
ऐसी फिर शब नसीब हो कि न हो
साक़ी-ए-माहवश करे न दिरंग
ख़ूब था वो ज़मान-ए-रुस्वाई
ख़ूब-तर थी वो अक़्ल-ओ-इश्क़ की जंग
हैं तलब-गार-ए-शौक़ गूना-गूँ
हुस्न के जल्वा-हा-ए-रंगा-रंग
बढ़ चला जोश-ए-आरज़ू हसरत
ख़त्म आने को आई क़ैद-ए-फ़िरंग

(९)

ऐ तिलक ऐ इफ़्तिख़ार-ए-जज़्बा-ए-हुब्ब-ए-वतन

हक़-शनास-ओ-हक़-पसंद-ओ-हक़-यक़ीन-ओ-हक़-सुख़न

तुझ से क़ाएम है बिना आज़ादी-ए-जज़्बात की

तुझसे रौशन अहल-ए-इख़्लास-ओ-सफ़ा की अंजुमन

सब से पहले तू ने की बर्दाश्त ऐ फ़र्ज़ंद-ए-हिंद

ख़िदमत-ए-हिंदोस्ताँ में कुल्फ़त-ए-क़ैद-ए-मिहन

ज़ात तेरी रह-नुमा-ए-राह-ए-आज़ादी हुई

थे गिरफ़्तार गुलामी वर्ना यारान-ए-वतन

तू ने ख़ुद्दारी का फूँका ऐ तिलक ऐसा फ़ुसूँ

यक क़लम जिस से ख़ुशामद की मिटी रस्म-ए-कुहन

नाज़ तेरी पैरवी पर 'हसरत'-ए-आज़ाद को

ऐ तुझे क़ायम रखे ता-देर रब्ब-ए-ज़ुल-मिनन

(10)

दिल कुश्ता-ए-ग़म है जान बर्बाद

मायूस-ए-फ़िराक़ हूँ मैं नाशाद

आशिक़ का है काम जान देना

अपना भी है इस ख़याल पर साद

या नर्मी-ए-हुस्न-ओ-गर्मी-ए-ख़ू

इस ज़ात में है सिफ़ात-ए-अज़्दाद

भूले हमें और सब फ़साने

इक क़िस्सा-ए-आरज़ू रहा याद

हो हुस्न कि इश्क़ सब हैं फ़ानी

शीरीं ही रही रहा न फ़रहाद

अहरार-ए-वतन-परस्त-ओ-हक़-गो

था जिन से दयार-ए-सिद्क़ आबाद

सब हो गए बंद एक 'हसरत'

बाक़ी है अबुल-कलाम आज़ाद

(11)

मुहब्बत ने असर पैदा किया ये दिल-नशीं हो कर
कि लब तक शिक्वा-हा-ए-हुस्न भी आए हसीं हो कर
हिदायत का ज़माना तिश्ना था अहल-ए-सवीयत ने
दिखाई सब को राह-ए-हुर्रियत बे-ख़ौफ़-ए-दीं हो कर
उरूज-ए-माह दुश्मन है सुकून-ए-बहर का हसरत
वो लेकिन बाइस-ए-तस्कीन-ए-दिल हैं मह-जबीं हो कर

(12)

है मश्क़-ए-सुख़न जारी चक्की की मशक़्क़त भी
इक तुर्फ़ा तमाशा है 'हसरत' की तबीअत भी
जो चाहो सज़ा दे लो तुम और भी खुल खेलो
पर हम से क़सम ले लो की हो जो शिकायत भी
दुश्वार है रिंदों पर इन्कार-ए-करम यकसर
ऐ साक़ी-ए-जाँ-परवर कुछ लुत्फ़-ओ-इनायत भी
दिल बस-कि है दीवाना उस हुस्न-ए-गुलाबी का
रंगीं है इसी रू से शायद ग़म-ए-फ़ुर्क़त भी
ख़ुद इश्क़ की गुस्ताख़ी सब तुझ को सिखा देगी
ऐ हुस्न-ए-हया-परवर शोख़ी भी शरारत भी
बरसात के आते ही तौबा न रही बाक़ी
बादल जो नज़र आए बदली मेरी निय्यत भी
उश्शाक़ के दिल नाज़ुक उस शोख़ की ख़ू नाज़ुक
नाज़ुक इसी निस्बत से है कार-ए-मोहब्बत भी
रखते हैं मिरे दिल पर क्यूँ तोहमत-ए-बेताबी
याँ नाला-ए-मुज़्तर की जब मुझ में हो क़ुव्वत भी

ऐ शौक़ की बेबाकी वो क्या तेरी ख़्वाहिश थी
जिस पर उन्हें ग़ुस्सा है इन्कार भी हैरत भी
हर-चंद है दिल शैदा हुर्रिय्यत-ए-कामिल का
मंज़ूर-ए-दुआ लेकिन है क़ैद-ए-मोहब्बत भी
हैं 'शाद'-ओ-'सफ़ी' शाइर या 'शौक़'-ओ-'वफ़ा' 'हसरत'
फिर 'ज़ामिन'-ओ-'महशर' हैं 'इक़बाल' भी 'वहशत' भी

(13)

दीदार की उम्मीद में करता हूँ ख़ता मैं
किस दर्जा हूँ गिर्वीदा-ए-अर्बाब-ए-अता मैं
शाहों के तकब्बुर से भी दब कर न रहा मैं
किस बारगह-ए-ख़ास का आख़िर हूँ गदा मैं
देखे कोई नैरंग-ए-मुहब्बत के ये नक़्शे
करते हैं जफ़ा आप तो देता हूँ दुआ मैं
अग़्यार में इक रश्क से बरपा है क़यामत
हालाँकि तिरे पास न आया न गया मैं
उस शोख़-ए-पशीमाँ ने रक़ीबों से बिगड़ कर
चाहा था कि फिर मुझ से मिले पर न मिला मैं
बेकार है इज़्हार-ए-ग़ज़ब अहल-ए-सितम का
डरता हूँ मैं उन से न डरूँगा न डरा मैं
ताज़ीर के क़ाबिल नहीं गुस्ताख़ी-ए-अर्मां
इस राह पर जब तू ने चलाया तो चला मैं
आज़ुर्दगी-ए-शौक़ भी क्या चीज़ है हसरत
जाना न किसी ने वो ख़फ़ा हैं कि ख़फ़ा मैं

(14)

क़ब्ज़ा-ए-यसरिब का सौदा दुश्मनों के सर में है
अब तो इंसाफ़ इस सितम का दस्त-ए-पैग़म्बर में है
जौर-ए-यूरप है बिना बेदारी-ए-इस्लाम की
ख़ैर है दर-अस्ल ये या आँकि शक्ल-ए-शर में है
ख़ातिर-ए-अफ़्सुर्दा में बाक़ी है अब तक याद-ए-इश्क़
गर्मी-ए-आतिश हनूज़ इस मुश्त-ए-ख़ाकिस्तर में है
क़िल्लत-ए-अफ़्वाज-ए-तुर्की पर न हो इटली दिलेर
एक है सौ के लिए काफ़ी जो इस लश्कर में है
अब ख़ुदा चाहे तो 'हसरत' जल्द हो जाए बुलंद
रायत-ए-हुर्रिय्यत-ओ-हक़ जो कफ़-ए-अनवर में है

(15)

इस दर्जा तुझे माइल–परहेज़ न करते
हम जौर जो बेजा तिरे अंगेज़ न करते
कुछ ख़ातिर-ए-उश्शाक़ भी मंजूर थी तुम को
यूँ वर्ना जफ़ा-हा-ए-वफ़ा तेज़ न करते
हम क़ौल के सादिक़ हैं अगर जान भी जाती
वल्लाह कभी ख़िदमत-ए-अंग्रेज़ न करते
काफ़ी था मुझे दुर्द-ए-तह-ए-जाम भी 'हसरत'
कासा जो मिरा मय से वो लबरेज़ न करते

(16)

रस्म-ए-जफ़ा कामयाब देखिए कब तक रहे
हुब्ब-ए-वतन मस्त-ए-ख़्वाब देखिए कब तक रहे
दिल पे रहा मुद्दतों ग़ल्बा-ए-यास-ओ-हिरास
क़ज़िया-ए-हरम-ओ-हिजाब देखिए कब तक रहे

ता-ब-कुजा हों दराज़ सिल्सिला-हा-ए-फ़रेब
ज़ब्त की लोगों में ताब देखिए कब तक रहे
पर्दा-ए-इस्लाह में कोशिश-ए-तख़रीब है
ख़ल्क़-ए-ख़ुदा पर अज़ाब देखिए कब रहे
नाम से क़ानून के होते हैं क्या-क्या सितम
जब्र-ब-ज़ेर-ए-नक़ाब देखिए कब तक रहे
दौलत-ए-हिंदोस्तान क़ब्ज़ा-ए-अग़यार में
बे-हद-ओ-बे-यक-ए-हिसाब देखिए कब तक रहे
है तो कुछ उखड़ा हुआ बज़्म-ए-हरीफ़ाँ का रंग
अब ये शराब-ओ-कबाब देखिए कब तक रहे
'हसरत'-ए-आज़ाद पर जौर-ए-ग़ुलामान-ए-वक़्त
अज़-रह-ए-बुग़्ज़-ओ-इताब देखिए कब तक रहे

(17)

देखना एक नज़र भी उन्हें ठहरा है गुनाह
दर-ख़ुर-ए-अफ़्व हैं वाक़िफ़ न थे दस्तूर से हम
उन के ग़मख़्वार बने क्या कि हुए ख़ुद भी ख़राब
काश मानूस न होते दिल-ए-रंजूर से हम
रब्त-ए-बाहम की हो क्या शक्ल कि आगाह नहीं
दिल-ए-रंजूर से तुम ख़ातिर-ए-मसरूर से हम
'हसरत' आएगी तसल्ली को यहाँ रूह-ए-'शमीम'*
क़ैद हो आए हैं झाँसी जो ललितपूर से हम

*अब्दुल्लाह ख़ान शमीम, मदफ़ून झाँसी

(18)

हर हाल में नाशादी-ए-दिल याद रहेगी
पाबंदी-ए-हिरमान-ए-ख़ुदा याद रहेगी

बेकार डराते हैं मुझे क़ैद-ए-सितम से
वाँ रूह-ए-वफ़ा और भी आज़ाद रहेगी
मामूर-ए-ग़म-ए-इश्क़ अजब दिल की है बस्ती
हर-चंद उजाड़ो इसे आबाद रहेगी
इन्कार और इक जुर्आ-ए-सहबा से बी इन्कार
साक़ी ये तिरी कम-निगही याद रहेगी
निस्बत जुज़-ओ-कुल की है प' दुनिया-ए-अमल में
अक़्वाम को मोहताजी-ए-अफ़राद रहेगी
घबरा के कहा रूह ने ज़िंदान-ए-जसद में
कब तक अभी इस क़ैद की मीआद रहेगी
मैं हूँ वो रज़ा-जू कि तबीअत मिरी 'हसरत'
नाकामी-ए-जावेद से भी शाद रहेगी

(१९)

गर वफ़ादारी-ए-अग़्यार का ग़ौग़ा है यही
जान से हम भी गुज़र जाएँगे सोचा है यही
ख़ंदा-ए-अहल-ए-जहाँ की मुझे पर्वा क्या थी
तुम भी हँसते हो मिरे हाल पे रोना है यही
हम भी हों दरपय-ए-इन्कार तो कुछ दूर हैं
कि तिरे जौर-ए-नुमायाँ का तक़ाज़ा है यही
इस क़दर जल्द जो पैमान-ए-वफ़ा तोड़ दिया
आप ही कहिए भला आप को ज़ेबा है यही
मज़हब-ए-इश्क़ में गुंजाइश-ए-तावील कहाँ
दीन पर हैफ़ है गर दीन का मंशा है यही
नागवारा है बहुत तल्ख़ी-ए-हिज्राँ लेकिन
तुम जो कहते हो गवारा तो गवारा है यही
ये जो इक दर्द-ए-मोहब्बत की ख़लिश है 'हसरत'
मक़्सद-ए-दिल है यही जान-ए-तमन्ना है यही

(20)

हम से हो पैरवी-ए-हक़ का सर-अंजाम कहाँ
देखें इस सुब्ह-ए-सदाक़त की हो अब शाम कहाँ
ख़ास ताज़ीर के लाइक़ है गुनहगारी-ए-इश्क़
दर-ख़ुर-ए-जाँ है तिरी सरज़निश-ए-आम कहाँ
पंद-ए-नासेह वो सुने ख़ौफ़-ए-मलामत हो जिसे
पास-ए-नामूस कहाँ आशिक़-ए-बदनाम कहाँ
किश्वर-ए-हिंद कि मग़लूब रहा है इस में
नाम ही नाम है इस्लाम का इस्लाम कहाँ
'हसरत'-ए-ज़ार है और कश्मकश-ए-यास-ओ-उमीद
अब वो बालीदगी-ए-शौक़ का हंगाम कहाँ

(21)

उस बुत के पुजारी हैं मुसलमान हज़ारों
बिगड़े हैं इसी कुफ़्र में ईमान हज़ारों
दुनिया है कि उन के रुख़-ओ-गेसू पे मिटी है
हैरान हज़ारों हैं, परेशान हज़ारों
तन्हाई में भी तेरे तसव्वुर की बदौलत
दिल-बस्तगी-ए-ग़म के हैं सामान हज़ारों
ऐ शौक़ तिरी पस्ती-ए-हिम्मत का बुरा हो
मुश्किल हुए जो काम थे आसान हज़ारों
इक बार था सर गर्दन-ए-हसरत पे रहेंगे
क़ातिल तिरी शमशीर के एहसान एहसान हज़ारों

(22)

मुहब्बत के असर की तुर्फ़ा-सामानी नहीं जाती
ख़ुद उन से अपनी सूरत अब तो पहचानी नहीं जाती

ग़लत है दावा-ए-इर्फ़ान-ए-हक़ अर्बाब-ए-हिक्मत का
हक़ीक़त उनसे बूझी जाती है जानी नहीं जाती
हवस के हौसले हैं पस्त दुनिया-ए-मोहब्बत में
निगाह-ए-आरज़ू की पाक-दामानी नहीं जाती
ये आख़िर क्या क़यामत है कि बा-वस्फ़-ए-ख़िरद-मंदी
हवस के मार्कों में दिल की नादानी नहीं जाती
तलबगार-ए-वफ़ा-ए-हुस्न है इश्क़-ए-ग़रज़-पर्वर
ये ख़ू जाती तो है लेकिन ब-आसानी नहीं जाती
मिरी मज़्लूमियाँ भी जुर्म ठहरी हैं न क्यों ठहरें
कि एक उस जौर-ए-नादिम की पशेमानी नहीं जाती
सविय्यत आपका मक़्सद बग़ावत आपका मस्लक
मगर इस पर भी 'हसरत' की ग़ज़ल-ख़्वानी नहीं जाती

(23)

यूरप में जैसे फैल गई है वबा-ए-हिर्स
चलने लगे न सारे जहाँ में हवा-ए-हिर्स
है चीन कोरिया के मिटाने पे मुस्तइद
जापान भी हुआ है मगर आश्ना-ए-हिर्स

(24)

आईना हूँ मैं बे-अमली बे-ख़लली का
इक तुर्फ़ा-तमाशा है ये नेमुल-बदली का
ऐ हुस्न तिरे नाज़ की ख़िदमत में क़दीमी
हासिल है मुझे फ़ख़्र नियाज़-ए-अज़ली का
बख़्शा है पसंदीदगी-ए-ख़ल्क़ ने अक्सर
दर्जा मिरे अशआर को ज़र्बुल-मसली का
फ़ितरत है बरी शाइबा-ए-शिर्क से मेरी
याँ ख़ौफ़ है ईमाँ को ख़फ़ी का न जली का

मैं ग़लबा-ए-आदा से हिरासाँ नहीं हसरत
है मद्द-ए-नज़र शेवा हुसैन इब्न-ए-अली का

(25)

तुझ को पास-ए-वफ़ा ज़रा न हुआ
हम से फिर भी तिरा गिला न हुआ
ऐसे बिगड़े कि फिर जफ़ा भी न की
दुश्मनी का भी हक़ अदा ना हुआ
कट गई एहतियात-ए-इश्क़ में उम्र
हम से इज़्हार-ए-मुद्दआ न हुआ
तेरे इस इल्तिफ़ात का हूँ ग़ुलाम
जो हुआ भी तो बरमला न हुआ
रू-ब-रू उन के कुछ नहीं मालूम
क्या हुआ बेख़ुदी में क्या न हुआ
मर मिटे हम तो मिट गए सब रंज
ये भी अच्छा हुआ बुरा न हुआ
तुम जफ़ाकार थे करम न किया
मैं वफ़ादार था ख़फ़ा न हुआ
ख़ुद-ब-ख़ुद बू-ए-यार फैल गई
कोई मिन्नत-कश-ए-सबा न हुआ
रह गई तेरे फ़क्र-ए-इश्क़ की शर्म
मैं जो मुहताज-ए-अग़्निया ना हुआ
हो के बेख़ुद कलाम-ए-'हसरत' से
आज 'ग़ालिब' ग़ज़ल-सरा ना हुआ

(26)

होती है रोज़ बारिश-ए-इर्फ़ां मिरे लिए
गोया बहिश्त-ए-इश्क़ है ज़िंदाँ मरे लिए
नाकामी-ए-तलब में कि है जान-ए-आशिक़ी
गंजीना-ए-मुराद है पिन्हाँ मिरे लिए
नज़्दीक है कि शौक़ सुने वादा-ए-विसाल
लब-हा-ए-नाज़-ए-यार हैं लर्ज़ां मिरे लिए
इश्क़-ए-बुतान-ओ-ज़ौक़-ए-समाअ-ओ-हवा-ए-मय
ज़ाहिद के हक़ में कुफ़्र है ईमाँ मिरे लिए

(27)

लुत्फ़ की उन से इल्तिजा न करें
हम ने ऐसा कभी किया न करें
मिल रहेगा जो उन से मिलना है
लब को शर्मिंदा-ए-दुआ न करें
सब्र मुश्किल है आरज़ू बेकार
क्या करें आशिक़ी में क्या न करें
मर्ज़ी-ए-यार के ख़िलाफ़ न हो
लोग मेरे लिए दुआ न करें
शौक़ उन का सो मिट चुका हसरत
क्या करें हम अगर वफ़ा न करें

(28)

कोशिश विसाल-ए-यार की माज़ूर हो चुकी
अब हम से ख़िदमत-ए-दिल-ए-रंजूर हो चुकी
अर्ज़ी जनाब-ए-हुस्न में भिजवा के शौक़ को
हर दम है अब ये सोच कि मन्ज़ूर हो चुकी
दस्तूर के उसूल मुसल्लम ठहर चुके

शाही भी राम-ए-ग़ल्बा-ए-जम्हूर हो चुकी
सरमाया-दार ख़ौफ़ से लर्ज़ां हैं क्यों न हों
मालूम सबको क़ुव्वत मज़दूर हो चुकी
और आप इस से चाहते क्या हैं सिवाए सोज़
हसरत ये नार-ए-इश्क़ है ये नूर हो चुकी

(29)

मंज़िल-ए-वस्ल-ए-यार है पैदा
दरमियान-ए-हुदूद-ए-बीम-ओ-रजा
दिल-ए-इस्याँ में ताब-ए-शोला-ए-इश्क़
हुस्न-ए-मुत्लक़ की रू-ए-हक़ में ज़िया
जान दे दी पहुँच के उन के हुज़ूर
हम ने और उन से कुछ कहा न सुना
बे-ख़ता भी गुनाहगार हैं हम
आप जो कुछ कहें वही है बजा
हम रज़ाकार हैं ख़ुदा की क़सम
हम न होंगे मगर शहीद-ए-वफ़ा
हो गए महव-ए-इश्क़ सब 'हसरत'
अब ग़म-ए-हिज्र है न शौक़-ए-बुका

(30)

जाइज़ नहीं इश्क़ उस का मुसीबत ये बड़ी है
उस फ़ित्ना-ए-ईमाँ से कहाँ आँख लड़ी है
हर लहज़ा है रुस्वाई-ए-कौनैन का धड़का
हर साअत-ए-शौक़ अपनी क़यामत की घड़ी है
पहले तो करम ख़ुद ही किया तुमने फिर अब क्यों
आँखों से लगी अश्क-ए-नदामत की झड़ी है
हम को ये तिरी सरज़निश-ए-मर्हमत-आलूद

क्योंकर न गवारा हो कि फूलों की झड़ी है
क्या हुस्न-परस्ती भी कोई ऐब है हज़रत
होने दो जो अख़्लाक़ की तन्क़ीद कड़ी है

(31)

रूह को महव-ए-जमाल-ए-रुख़-ए-जानाँ कर लें
हम अगर चाहें तो ज़िंदाँ को गुलिस्ताँ कर लें
रंज राहत है अगर हस्ब-ए-तक़ाज़ा-ए-मुराद
अहल-ए-तस्लीम तिरे दर्द को दरमाँ कर लें
दिल में जा दे के तिरे दर्द को अर्बाब-ए-हवस
अब भी गर चाहें तो गुंजाइश-ए-दरमाँ कर लें
जान देना है तो कर दें तिरे क़दमों पे निसार
काम मुश्किल है तो मुश्किल को हम आसाँ कर लें
आप उन्हें शौक़ से मेहमान बुला लें 'हसरत'
कुछ मगर नज्र-ए-दिल-ओ-दीं का तो सामाँ कर लें

(32)

अपना सा शौक़ औरों में लाएँ कहाँ से हम
घबरा गए हैं बे-दिली-ए-हम-रहाँ से हम
ऐ याद-ए-यार देख कि बा-वस्फ़-ए-रंज-ए-हिज्र
मसरूर हैं तिरी ख़लिश-ए-ना-तवाँ से हम
मालूम सब से पूछते हो फिर भी मुद्दआ
अब तुमसे दिल की बात कहें क्या ज़बाँ से हम
बे-ताबियों से छिप न सका हाल-ए-आरज़ू
आख़िर बचे न उस निगह-ए-बद-गुमाँ से हम
है इंतिहा-ए-यास भी इक इब्तिदा-ए-शौक़
फिर आ गए वहीं पे चले थे जहाँ से हम

हसरत फिर और जा के करें किस की बंदगी
अच्छा जो सर उठाएँ भी इस आस्ताँ से हम

(33)

ना-मुरादों को शाद-काम करो
करम अपना भी कुछ तो आम करो
कार-ए-आशिक़ है ना-तमाम तो तुम
क़त्ल कर के उसे तमाम करो
सब की ख़ातिर का है ख़याल तुम्हें
कुछ हमारा भी इंतिज़ाम करो

(34)

तासीर-ए-बर्क़-ए-हुस्न जो उन के सुख़न में थी
इक लर्ज़िश-ए-ख़फ़ी मिरे सारे बदन में थी
इक रंग-ए-इल्तिफ़ात भी उस बेरुख़ी में था
इक सादगी भी उस निगह-ए-सेहर-फ़न में थी
कुछ दिल ही बुझ गया है मिरा वर्ना आज-कल
कैफ़िय्यत-ए-बिहार की शिद्दत चमन में थी
ग़ुर्बत की सुब्ह में भी नहीं है वो रोशनी
जो रोशनी कि शाम-ए-सवाद-ए-वतन में थी
अच्छा हुआ कि ख़ातिर-ए-'हसरत' से मिट गई
हैबत सी इक जो ख़तरा-ए-दार-ओ-रसन में थी

इक ख़लिश होती है महसूस रग-ए-जाँ के क़रीब
आन पहुँचे हैं मगर मंज़िल-ए-जानाँ के क़रीब
लिपटे इस ढब से कि फिर हो न जुदा ख़ाक मिरी
कहीं पहुँचे भी तो उस गोशा-ए-दामाँ के क़रीब
लखनऊ आने का बाइस ये खुला आख़िर-ए-कार
खींच लाया है दिल इक शाहिद-ए-पिन्हाँ के क़रीब
वो हैं जो पास तो मज्लिस भी है इक बाग़ हमें
कामरानी भी नुमूदार है हिरमाँ के क़रीब
रोज़ हो जाती है रूया में ज़ियारत 'हसरत'
आस्तान-ए-शह-ए-रज़्ज़ाक़ है ज़िंदाँ के क़रीब

(36)

इस तग़ाफ़ुल पर भी करते हैं तुझी को याद हम
कितने हैं मज्बूर देख ऐ बानी-ए-बेदाद हम
अक़्ल क्या आई हमें जब हो चुका नाकाम दिल
रहम क्या आया उन्हें जब हो चुके बर्बाद हम
जाते हैं परतापगढ़ आख़िर इलाहाबाद से
जिस तरह झांसी से आए थे इलाहाबाद हम
हर तरफ़ पेश-ए-नज़र है वो जमाल-ए-दिल-फ़रेब
देखते हैं यूँ बहार-ए-गुलशन-ए-ईजाद हम
क़ैद-ए-तन्हाई में भी तन्हा नहीं ऐ याद-ए-यार
आज ये उक़्दा ख़ुला हम पर कि हैं आज़ाद हम
मार डाला मुझ को 'हसरत' यूँही जब उस ने कहा
मानना होगा तुझे करते हैं जो इरशाद हम